पत्थरयुग के दो बुत

आचार्य चतुरसेन

पत्थर-युग के दो बुत मुझे मिले हैं—
एक औरत, दूसरा मर्द
जमाने ने इन्हें सभ्यता के बड़े-बड़े लिबास पहनाए
इन्हें सजाया-संवारा, सिखाया-पढ़ाया
जमाना आगे बढ़ता गया
और वह सभ्यता के शिखर पर जा बैठा
पर ये दोनों बुत अपने लिबास के भीतर आज भी
वैसे ही पत्थर-युग के बुत हैं
इनमें एक बाल बराबर भी अन्तर नहीं पड़ा है
एक है औरत और दूसरा है मर्द—

क्या बताऊँ किस कदर अजीजों गालिब हुए
चन्द दिनों, जिनको अपना वालिदों समझता था मैं

पत्थर-युग के दो बुत

रेखा

आज यह उनका पांचवां 'बर्थडे' है, शादी के बाद। जिनमें से वे केवल एक में ही घर पर हाज़िर रहे—पहले ही बर्थडे पर, जो शायद हमारे विवाह के पांच महीने बाद ही पड़ा था। उस समय तक तो मेरे मन का संकोच और झिझक भी नहीं मिटी थी। उस समय मेरी आयु उन्नीस बरस की थी और उनकी बत्तीस बरस की। वे केन्द्र में उस समय वित्त मन्त्रालय में उपसचिव थे। उनका रुआबदार चेहरा, मेघ-गर्जन-सा स्वर-घोष, बलिष्ठ गौर शरीर, बड़ी-बड़ी उभरी हुई आंखें, उठी हुई नाक और घोर-गम्भीर भाव-भंगिमा तब ऐसी थी कि मैं उन्हें देखते ही सहम जाती थी। बातचीत का उनका ढंग हाकिमाना था। सब बातों में जैसे वे आज्ञा ही देते थे। नौकर-चाकर, चपरासियों की—पी० ए० सेक्रेटरी और दफ्तर के दूसरे कर्मचारियों की एक फौज सदैव उनके पीछे लगी रहती थी। एक के बाद दूसरी फाइलों के गट्ठर लेकर उनके दफ्तर के कर्मचारीगण आते, सहमे-सहमे-से उनकी कुर्सी के पीछे अदब से खड़े होते, उनसे हस्ताक्षर कराते। हस्ताक्षर करते-करते वे उनसे बीच-बीच में कुछ प्रश्न करते। प्रश्नों का उत्तर देते हुए उनके पी० ए० सेक्रेटरी की ज़बान लड़खड़ा जाती। उनके नेत्रों से नेत्र मिलाकर जवाब देने का किसीको साहस न होता—बहुधा उनमें से अनेकों के चेहरे पर पसीना आ जाता। चपरासी पत्थर की मूर्ति की भांति घण्टों अचल उनके संकेत की प्रतीक्षा में खड़े रहते। यह सब मैं देखती—और देखकर मैं भी उसी भांति जड़-स्तब्ध रह जाती। उनके निकट जाने, उनसे बात करने में मुझे डर लगता था। मैं घबरा जाती थी। क्यों न घबराती भला? मैं तो एक साधारण गृहस्थ की कन्या हूं। मेरे पिता के घर पर तो केवल एक ही नौकर घर का सब काम-धन्धा करता था।

पिताजी उसके साथ परिवार के एक सदस्य की भांति ही व्यवहार करते थे। वह हमारा पुराना नौकर था। मुझे उसने बचपन में गोद खिलाया था। वह मुझे 'बिटिया रानी' कहता था। विवाह होने के बाद तक भी वह इसी तरह कहता रहा। मैं उसे 'दद्दा' कहती थी। मां उसे बहुत मानती थीं। और वह हमारे सारे ही दुःख-सुख में सम्मिलित था। पिता की मैं इकलौती बेटी हूं। तीन भाई हुए, और जाते रहे। मां उनकी याद कर-करके रोती रही। बहुत बार उन्होंने मुझे छाती से लगाकर मेरे भाइयों की स्मृति में आंसू बहाए। कदाचित् इसीसे माता और पिता का समूचा प्यार मुझ अकेली पर उमड़ आया था। इतना प्यार भी किसी-को मिल सकता है, यह मैं तब नहीं, पर अब सोचती हूं—उनसे दूर होकर, उनकी स्नेहमयी गोद से छीनी जाकर।

प्रारम्भ में पिताजी ने मुझे स्वयं ही पढ़ाया। उस पढ़ाने में कितना दुलार था! ये बचपन की बातें हैं पर उन्हें भूली नहीं हूं। भूल सकती भी नहीं हूं। इसके बाद स्कूल-कालेज, कालेज की सहेलियां, विवाह के पूर्व का वह निर्द्वन्द्व जीवन, जब शैशव विदा हो रहा था और यौवन आंख-मिचौनी के खेल खेल रहा था, गुदगुदाता था, खिलखिलाता था, छूता था, पर दीखता न था। कैसा मनमोहक था वह खेल! कितना मन को भाता था! कितना हंसती थी मैं, और कितनी बातें करती थी—आज सोचती हूं तो सोचती ही रह जाती हूं। बात-बात पर मचलती, मां की गोद में गिर जाती, जैसे अभी भी मैं एक दूधपीती बच्ची थी। और मां भी अभी जैसे मुझे वैसी ही दूधपीती बच्ची समझती थीं। ऐसा दुलार करती थीं। मुझे तो याद नहीं, मैंने कभी मां का कोई अपराध किया हो, या मां ने मेरी कोई भूल-चूक अपराध मानी हो। और पिता-जी, बेचारे ऐसे निरीह-निष्पाप—ज्यों-ज्यों मैं बड़ी होती गई, मेरे अनुगत होते गए। उनपर मैं निर्द्वन्द्व शासन चलाती, जो चाहती करा लेती। मेरी किसी इच्छा में वे बाधक न हुए। मेरी हर त्रुटि पर वे हंस देते। मेरे हर हठ को वे आंखों पर लेते। सयानी होने पर मैं मां के साथ घर के कामों में हाथ बंटाती। पिताजी के लिए एकाध चीज अपने हाथ से जरूर बनाती। पिताजी मुझे 'राजा' के नाम से सम्बोधन करते थे। वे मुझे पुत्री नहीं, पुत्र मानते थे। उनके मुंह से 'राजा' सम्बोधन

कितना प्यारा लगता था मुझे ! आज भी मेरे कानों में वह प्यारा संबोधन गूंजता रहता है। चाय को तनिक देर हुई कि पिताजी कहते—राजा बेटा, आज हमें चाय नहीं मिली ! और मैं घर-आंगन में अपनी अल्हड़ हंसी बखेरती जाती उनके पास चाय का प्याला लेकर।

वे दिन मेरी आंखों में अब भी बस रहे हैं। अभी केवल पांच ही बरस तो हुए। मेरे रक्त की प्रत्येक बूंद में रमे हुए हैं वे दिन, भला भूल कैसे सकती हूं ! परन्तु मुझे इस ज्वलन्त वैभव में धकेलकर जैसे वे चिरपरिचित प्रिय दिवस चले गए, वैसे ही चले गए मेरे वे माता-पिता —मेरी आत्मा के आधार और मेरे जीवन के निर्माता, प्रेम, न्याय, त्याग और आत्मदान के महादाता।

उस घर में और इस घर में भला क्या समता ? उस जीवन और इस जीवन में तो जमीन-आसमान का अन्तर है। अब तो मैंने अपने को इस जीवन का अभ्यस्त बना लिया है, सब कुछ परच गया है; पर तब तो सब कुछ पराया-सा, अटपटा-सा, अपरिचित-सा, अग्राह्य-सा लगता था।

हां, मैं उनकी बात कह रही थी। यही बात उनके सम्बन्ध में थी। बहुत साहस करने पर भी मैं उनके निकटतम न हो सकी, बहुत दिन तक। ऐसा प्रतीत होता था—एक पर्वत मेरे सम्मुख खड़ा है, कैसे इस पर चढ़ूंगी ! मेरे नन्हे-नन्हे पैर घायल हो जाएंगे। कितना ऊंचा, कितना बड़ा, कितना कठोर है यह पर्वत ! फिर भी सुशोभन है, दर्शनीय है, भव्य है। ऐसा ही तो दुरूह था उनका व्यक्तित्व ! पर वे मेरे हैं, यह एक बात मेरे मन में दिन में सौ बार उठती थी—वे आंखों के सामने रहते थे तब भी, और नहीं रहते थे तब भी। यही बात मां ने मुझसे कही थी, जब उन्होंने आंसुओं से अपनी छाती तर कर ली थी। और यही एक बात कहकर मुझे उनके साथ भेज दिया था। [illegible] हैं, यह तो खैर मैं समझ गई, जान गई, किन्तु क्यों हैं यह न [illegible]—
न तब, न अब, पाय [illegible]
हैं; पति स्त्री का स्वामी [illegible]
बहुत जगह

गया तन का भी और मन का भी। तब जानी मैंने—इसलिए नहीं, गया है। तेरे भी प्राण प्राण् अब मेरे बना तेरा —सब कुछ है। हमारा तुम दो नहीं हैं, अभिन्न हैं। वे मैं हूँ और मैं वे हैं।

उन्होंने जब दूसरी बार मुझे अपनी बलिष्ठ भुजाओं में कसकर मेरे अधरों पर अपना प्रथम सर्व-सर्व चुम्बन अंकित किया, तब मुझे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे अकस्मात् ही किसी दुर्दम शक्ति ने मुझे उठा-कर उस दुरारोह पर्वत की उत्तुंग चोटी पर फेंक दिया। प्रीति और आनन्द ने मुझे झकझोर डाला। मैं हाँफने लगी। परन्तु इसके बाद मैं जैसे वह छोटी-सी निविड़ कालिमा में रह गई। नारी की गरिमा ने जैसे मुझे दबोच लिया। मैंने उस पर्वत के उत्तुंग शिखर पर से देखा, सारा संसार तुच्छ-सा, छोटा-सा लग रहा था। और इसके बाद मैंने देखा उनका स्वच्छन्द झूमर, उच्छल आह्लाद, उल्लास, उज्ज्वल प्यार और प्यार का प्रलय उन्माद, विलास और भोग का ऐश्वर्य जो सब मेरे चारों ओर बिखरकर बह रहा था, समेटे में न समेटा जा सकता था। अनिर्वचनीय था वह। मैं थक गई थी; किन्तु वे ? वे बिखेरे जा रहे थे, आनन्द का, प्यार का, उन्माद का मधुर प्रवाह, पहाड़ी निर्झर की भाँति झर-झर-झर-झर।

यह सब उनके उस रूप से भिन्न था, जो मैंने आने पर देखा था, जिसने मुझे भयभीत कर दिया था। मैंने जाना—उनकी वह महत्ता, शान और प्रभाव औरों के लिए है, मेरे लिए प्यार है, हास्य है, आलिंगन है, चुम्बन है, *आत्मार्पण है।* यह देखकर मेरी भीति भाग गई। अभिन्न दृष्टि उदय हुई। प्यार का एक अंकुर उगा और देखते ही देखते मुझे—मेरे आपे को अतिक्रान्त कर गया। भूल गई मैं अपने को—अपने नारी-जीवन को, अपने तन को, मन को, अपनेपन को। रह गई वही वज्रवत् आधारशिला, बलिष्ठ बाहुओं का वह आवेष्टन, चुम्बन का वह महादान। और मैं गरिमा में डूब गई। कहाँ गया वह शैशव व बाल-लीला, माता पिता का वह लाड़-प्यार, जिसे जीवन का अब तक आधार समझती रही। अब तो ऐसा लग रहा था—वह सब तो एक स्वप्न था—वास्तविक जीवन तो अब आरम्भ हुआ है; इक्कीस वर्ष की वय में। अपने ही भीतर मैंने अपने को नया जन्म धारण करते देखा—इस

नये जन्म के बाद मेरा जीवन भी नवीन हो गया। अब इसकी उस अतीत शैशव से भला क्या तुलना हो सकती थी!

दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि इस बीच मेरे माता और पिता स्वर्ग-वासी हो गए। पर अपने सौभाग्य के ऐश्वर्य में मैं ऐसी मदहोश थी कि यह दुर्भाग्य मुझे कुछ लगा ही नहीं। यह तो मैंने समझा कि कुछ मेरा अपना खो गया, पर उससे मेरी कुछ हानि हुई, ऐसा तो मैंने समझा ही नहीं! धिक्कार पड़े मेरी बुद्धि पर, मेरी स्वार्थपरता पर, मेरी मूढ़ता पर! मैं ऐसी मतवाली हो गई कि माता-पिता की उस गोद को एक-बारगी ही भूल गई – जिसने पूरे इक्कीस बरस तक अपने वात्सल्य से मुझे यौवन के राजसिंहासन पर ला बिठाया था। हां, मैं रोई थी, पर उन्होंने मुझे अधिक रोने नहीं दिया, मेरे आंसू-भरे नेत्रों पर चुम्बन के अनगिनत अंक अंकित करके गीली आंखों को सूखा कर दिया। मैंने देखा, तिनके का सहारा खोकर मुझे अब विशाल वटवृक्ष का सहारा मिल गया। संसार की सब युवतियों की भांति मैं भी मूढ़ अहम्मन्यता की शिकार बन गई। माता-पिता को मैं भूलती चली गई।

और अब आया उनका जन्मदिन। उनका यह बत्तीसवां जन्मदिन था। पर मेरे लिए पहला ही था। अभी पांच ही महीने तो मुझे ब्याह-कर लाए हुए थे। इसी बीच प्यार के सुख और माता-पिता के बिछोह के दुःख ने मुझे झकझोर डाला था। मैं कुछ खोई-खोई-सी रहती थी। वे आफिस जाते तो मैं घर में सोते-जागते, उन्हींका स्वप्न देखती। वही आलिंगन, वही चुम्बन वही वज्रहास पहाड़ को हिला देने वाला, वही वज्र-वक्ष और प्यार की चितवन एवं अतीन्द्रिय आनन्द का चरम आदान-प्रदान। मेरा सूक्ष्म शरीर मंडराता रहता उनकी मानस-मूर्ति के चारों ओर, दुनिया में और भी कहीं कुछ है, मैं नहीं जानती थी, नहीं देखती थी। मेरे शरीर के भीतर मेरे रक्त की प्रत्येक बूंद में उनकी कमनीय मूर्ति बसी थी, और मेरे नेत्रों के बाहर सूरज के प्रकाश में सुशोभित रंगीन विश्व में तथा धवल चन्द्र-ज्योत्स्ना की उज्ज्वल छटा में वे ही दीख पड़ते थे—केवल वे ही।

और जब वे सशरीर मेरे सामने आ खड़े होते थे तब जैसे विश्व में असंख्य रूपों में बिखरी हुई उनकी मूर्तियां सिमटकर एकीभूत हो गईं

हों—ऐसा मुझे भान होता था। क्या कहूँ मैं पगली बाल, मैं दीवानी हो गई थी। मैं होश-हवास खो बैठी थी। किस भाग्यवती को कभी प्रेम का ऐसा भयानक बुखार चढ़ा होगा! किस नारी ने प्रेम का यह उन्माद उभरते कभी देखा होगा! .

एक दिन अकस्मात् ही उन्होंने आकर मुझसे कहा, "आज मेरा बर्थडे है।" और पांच सौ रुपयों के नोटों का गड्डर मेरे हाथ में थमा दिया। "कुछ मित्र भी आएंगे शाम को, जैसा ठीक समझो व्यवस्था करना और एक अच्छी-सी साड़ी अपने लिए ले आना।" वे तो इतना कहकर और एक चुम्बन लेकर आफिस चले गए। और मैं उन नोटों के गड्डर को हाथ में लिए जड़ बनी बैठी रही। क्या करूं, मेरी समझ में नहीं आ रहा था। बचपन में मेरे माता-पिता मेरा जन्मदिन मनाते थे। मेरे लिए मिठाइयां आती थीं, नये कपड़े आते थे, खिलौना और सौगात आती थी, पर वे सब तो बचपन की बातें हैं। ये तो बच्चे नहीं हैं, फिर यह बर्थडे कैसा मनाया जाएगा! परन्तु शीघ्र ही मेरी जड़ता दूर हो गई। मन स्फूर्ति से भर गया। तभी आफिस का चपरासी आ उपस्थित हुआ। उसने कहा, "गाड़ी ले आया हूं। चलिए बाजार से जो-जो खरीदना है ले आइए।" और मैं न जाने क्या-क्या खरीद लाई। चपरासी ने भी बहुत मदद की। मिठाइयां, नमकीन, फल, बिस्कुट, पेस्ट्री, मुरब्बे, पापड़ और न जाने क्या-क्या? कौन-कौन आएंगे, यह मैं नहीं जानती थी। क्या होगा, यह भी नहीं जानती थी। पर ज्यों-ज्यों चीजें मैं खरीदती जाती थी, मेरा दिल उमंग में हिलोरें लेता जाता था। मैंने एक आसमानी रंग की साड़ी भी खरीदी। बहुत माथापच्ची करनी पड़ी मुझे। न जाने उनको पसन्द आएगी भी या नहीं। मैंने तो अब अपना आपा ही खो दिया था—उन्हींकी आंख से अपने को देखती थी। साड़ियां पसंद ही नहीं आ रही थीं। अन्त में बहुत-बहुत हिचकिचाहट के बाद एक साड़ी खरीदी और एक मफलर लिया उनके लिए भी। चपरासी से मैंने बहुत सलाह-मशवरा किया। बेचारा बूढ़ा ब्राह्मण था। और सब नौकर-चाकर आफिसवाले मुझे 'मेम साहब' कहते थे, पर यह बूढ़ा ब्राह्मण मुझे 'माजी' कहकर पुकारता था। बड़ा भला लगता था मुझे इसके मुंह से माजी कहना। मुझे याद आता था—पिता के घर का

ड़ा नौकर रामू, जो मुझे 'बिटिया रानी' कहकर पुकारता था। मैंने घर के बड़े-बूढ़े की भांति इस ब्राह्मण सेवक से खूब सलाह-मशवरा करके एक-एक चीज खरीदी थी। कौन [illegible] पसन्द होगी—इसपर मैं इस बूढ़े चपरासी की राय को एकदम महत्त्व देती रही। बहुत-सी सामग्री खरीदकर मैं लौटी।

बड़ी धूमधाम रही रात को। बड़े-बड़े आदमी आए। एक गायक ने संगीत-गान किया। हंसी-मजाक, [illegible] खाना-पीना शुरू हुआ। स्त्रियां भी आईं। पुरुष भी [illegible]। सबसे मेरा परिचय [illegible] सत्कार का आदान-प्रदान हुआ। आनन्द [illegible] नया-निराला [illegible] रूप मैंने देखा।

धीरे-धीरे सब लोग जाने लगे। हंस-हंसकर बधाइयां देते जाते थे, सब सम्भ्रान्त पुरुष-स्त्री मुझे बहुत भले लग रहे थे। क्यूंके का यह त्यौहार मेरे मानस-पटल पर घर कर गया। सब चले गए—पर उनके कुछ अंतरंग मित्र भीतर के कमरे में अभी जमे बैठे थे। वहां उनका 'ड्रिंक' चल रहा था। इस ड्रिंक से मैं पहले अपरिचित थी। शराब वे पीते थे—यह मैं जान तो गई थी, पर शराब कैसे पी जाती है, यह न जानती थी। घर में वे शराब नहीं पीते थे। बहुत दिन बाद पता चला कि विवाह से प्रथम पीते थे—विवाह के बाद घर में बन्द कर दिया था—क्लब में जाकर पीते थे। इन पांच महीनों में मैंने उन्हें एक बार भी मदहोश नहीं देखा था। शराब की तेज महक अवश्य उनके मुंह से आती थी; पर वह महक कैसी है, यह मैं नहीं जानती थी। शर्म के मारे पूछ भी न सकती थी। कभी-कभी मुझे सहन नहीं होती थी। फिर भी मैं अपनी ग्लानि को नहीं प्रकट करती थी। किन्तु आज मैंने देखा। सबके जाने पर उनके तीन-चार अन्तरंग मित्र पीने बैठे थे। मैं उस मंडली में नहीं गई। कोई स्त्री उस मंडली में न थी। सब पुरुष ही थे। यों वे मुझे बुलाकर अपने मित्रों से परिचय कराते थे। पर इस वक्त नहीं बुलाया। रात बीतती जा रही थी और मैं उनके अंक में समा जाने को छटपटा रही थी। पर यह मंडली तो जमी बैठी थी। रामचरन चपरासी से—उसी बूढ़े ब्राह्मण से—मैंने पूछा, "वहां अब ये क्या कर रहे हैं? खाना-पीना तो सबका कब का खत्म हो चुका।" बूढ़ा चपरासी सब

दुलार के, आनन्द के और पहाड़ की उस ऊंची चोटी पर चढ़कर, जहां से दुनिया छोटी दीखी थी, उसके सपने। अन्तस् की आंखें सपने देख रही थी और बाहर की आंखें सावन-भादों की झड़ी लगा रही थी। हाय अब क्या होगा? यह रूप क्या हो गया? —मैं मूढ़ बनी यही सोच रही थी, रो रही थी। सोचती रही और फिर न जाने कब सो गई।

सुबह आंख खुली तो देखा, वे उठ चुके थे, बाथरूम से उनके गुन-गुनाने की परिचित मधुर ध्वनि आ रही थी। मैं हड़बड़ाकर उठ बैठी। वे बाहर आए और हंसते हुए मेरी ओर बढ़े। मेरे दोनों हाथ अपनी मुट्ठी में लेकर उन्होंने प्रेम से कहा, 'रात मेरी तबियत एकाएक खराब हो गई थी। है न; अब ठीक हूं। तुमको शायद रात बहुत तकलीफ रही, है? तुम्हारी आंखें लाल हो रही हैं, क्या सोईं नहीं?"

मैं रोने लगी। रोते-रोते उनके वक्ष पर जा गिरी। हाय मैं अभा गिनी रात की बात क्या कहूं भला! वह तो मेरे लिए प्रलय की रात थी—मेरे तो सभी सपने हवा हो गए थे। पर उनसे एक बात भी मुंह से न कह सकी, रोती रही। उन्होंने प्यार किया, मेरे सिर पर हाथ फेरा। उदारता और प्यार का भरपूर वही हाथ! वही स्पर्श! उससे जैसे मेरे सूखे प्राण फिर से हरे होने लगे—जैसे सूखे ठूंठ में हरी कोंपलें निकल आई हों।'

वे मुझे बाथरूम में ले गए। मुंह धुलाया। फिर एक प्रकार से मुझे अंक में भरकर चाय की टेबल पर ले गए। रात के उन्माद का तो अब चिह्न मात्र भी न था। वही पर्वत के समान महान और प्यार के मूर्ति-मान अवतार मेरे साथ बैठे हंस-हंसकर बातें कर रहे थे। अन्ततः मैं दुःस्वप्न की भांति उस रात की बात भूल ही गई।

वह दिन चला गया। और दिन आए और गए। आते गए, जाते गए। बहुत आए और गए। बहुत नई बातें पुरानी हुईं। पुरानी नई हुईं। पर शराब एक दैत्य की भांति मेरे मानस-पटल पर चढ़ बैठी। कैसी भयानक चीज़ है यह शराब! क्यों पीते हैं भला ये इसे? बहुत मन को रोका और आखिर एक दिन मैंने कह दिया, "क्यों पीते हो तुम इस ज़हर को?"

वे हंसे। टाल गए। टालते ही गए। परन्तु अन्ततः सवाल-जवाब,

हुज्जत बढ़ी सो वे तिनक गए। उन्होंने कहा, "ऐसी वाहियात औरत हो तुम ! हर बात का जवाब तलब करती हो। मैं नहीं पसन्द करता ये सब बातें !"

बस, जैसे आंधी का एक बवंडर आया और उस पहाड़ की चोटी पर से मुझे नीचे धकेल गया। अभी तक इतना साफ कलाम मैंने उनके मुंह से नहीं सुना था। वे भी शायद यह 'फील' करने लगे। नर्म होकर बोले, "सोसाइटी में यह सब करना पड़ता है डार्लिंग, तुम इन बातों का सोच-विचार न किया करो। इसके सिवाय इससे मेरी सेहत भी ठीक रहती है। आफिस में मुझे कितना काम करना पड़ता है, कितनी जिम्मेदारियां मेरे सिर पर हैं। ज़रा-सा शुगल न करूं तो बस मर ही मिटूं।"

ये शायद ठीक ही कहते हैं, यह सोचकर मैं चुप हो गई। पर मेरे मन में जो चोर बैठा सो बैठा। रात को जब ये क्लब से आते तो मैं सतर्क दृष्टि से उनकी प्रत्येक हरकत को देखती। मेरी सदा की प्रसन्नता गायब हो जाती और मेरा मन खीज से भर जाता। वे भी यह बात समझ गए और मुझसे खिंचे-खिंचे रहने लगे। और यों मिश्री में बांस की फांस का प्रवेश हो गया। मेरे सोने का महल मलिन होने लगा। मेरा उल्लास बुझने लगा। मैं खोई-खोई-सी रहने लगी। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा—जैसे यह कम्बख्त शराब एक व्यवधान बनकर हमारे बीच आ गई है। मैं चाहती थी कि मैं उनसे झगड़ा न करूं। पर अब वे और देर से घर लौटने लगे। कभी-कभी आधी-आधी रात तक मुझे खिड़की में मुंह दिए बैठा रहना पड़ता था; उनके लिए खाना लिए भूखी बैठी रहती थी। अब उनके मन में मेरे लिए वह सहानुभूति न थी। वे आते और मैं उदास और ठंडे दिल से खाने को कहती तो वे रूखे स्वर में कहते, 'मैंने तुमसे कई बार कहा है, मेरी प्रतीक्षा मत किया करो, खा-पी लिया करो। मैं वहां खा लेता हूं। पर तुम सुनती ही नहीं।' भला कैसे सुनूं मैं ! मर्द बन जाऊं ? औरत का स्वभाव ही छोड़ दूं !

वे यह कहकर सोने के कमरे में चले जाते और मैं बिना ही खाए-पिए एक ओर पड़ रहती। आए दिन यही होता और कभी-कभी दो-दो दिन बात करने की नौबत न आती। आखिर मैं करूं क्या ? जाऊं भी कहां ? सोचूं भी क्या ? जीवन तो बंध चुका। हृदय परकैंच हो चुका।

संग में हंसी और आंसुओं का गठबंधन हो गया। मैं हंसती भी, रोती भी। प्यार का दर्द अब मेरी बीमारी बन गया। पर इसका इलाज क्या था?

फिर दूसरा वर्ष आया, और वे पांच सौ रुपये मेरे हाथों में थमा-कर चल दिए। मैंने कहा, "सुनो," वे रुके, कहा, "क्या?"

"तुम्हारे हाथ जोड़ती हूं। इस बार यहां ड्रिंक मत करना।"

"अच्छा!" कहकर वे तेजी से चल दिए। उनका इस तरह जाना, 'अच्छा' कहना मुझे कुछ भाया नहीं—न जाने क्यों किसी अज्ञात भय ने मेरा मन मसोस दिया। मैं बाजार गई, सब सामान लाई। मन में उत्साह भी था, और भय भी था। न जाने आज की रात कैसे बीतेगी? पिछले साल की सब बातें याद आ रही थीं, और मेरा कलेजा कांप रहा था। फिर भी मैं यन्त्रवत् सब तैयारी कर रही थी।

मेहमान आने लगे पर उनका कहीं पता न था। मेरे पैरों के नीचे से धरती खिसक रही थी। लोग हंस-हंसकर बधाइयां दे रहे थे, चुहल कर रहे थे। मुझे उनके साथ हंसना पड़ता था, पर दिल मेरा रो रहा था। यह तो बिना दूल्हे की बरात थी। बड़ी देर में आए उनके अन्तरंग मित्र दिलीपकुमार। आगे बढ़कर उन्होंने सब मेहमानों को सम्बोधित करके कहा, "बन्धुओ और बहनो, बड़े खेद की बात है कि एक अत्यावश्यक सरकारी काम में व्यस्त रहने के कारण दत्त साहब इस समय हमारे बीच उपस्थित नहीं हो सकते हैं। उन्होंने क्षमा मांगी है और अपने प्रतिनिधिस्वरूप मुझे भेजा है। खूब खाइए-पीजिए मित्रो!"

इतना कहकर वे मेरे पास आए। मुझे तो काठ मार गया। मैंने कहा, "क्या हुआ?"

"कुछ बात नहीं भाभी, उन्हें बहुत जरूरी काम निकल आया। आओ, अब हम लोग मेहमानों का मनोरंजन करें, जिससे उन्हें भाई साहब की गैरहाजिरी अखरे नहीं।" और वे तेजी से भीड़ में घुसकर लोगों की आवभगत में लग गए। निरुपाय हो छाती पर पत्थर रखकर मुझे भी यह करना पड़ा। पर मैं ऐसा अनुभव कर रही थी जैसे मेरे शरीर का सारा रक्त निचुड़ गया हो, और मैं मर रही हूं।

जैसे-तैसे मेहमान विदा हुए। सूने घर में रह गए हम दो—दिलीप-

कुमार और मैं। उन्होंने मेरे निकट आकर कहा, "यह क्या भाभी, तुम्हारा तो चेहरा ऐसा हो रहा है, जैसे महीनों की बीमार हो। क्या तबियत खराब है तुम्हारी?"

"नहीं, मैं ठीक हूं, पर वे कब तक लौटेंगे?"

"उन्होंने कहा था कि छुट्टी होते ही मैं आ जाऊंगा। अब जब तक भाई साहब नहीं आ जाते, मैं यहां हूं। आप चिन्ता न कीजिए। लेकिन आपने तो कुछ खाया-पीया ही नहीं है। इतने लोग खा-पी गए, जो मालिक है, वही रह गया। तो कुछ खा लीजिए न—मैं लाता हूं।" पर मैंने उन्हें रोककर कहा, "नहीं, मैं कुछ नहीं खाऊंगी, आप बैठिए।" मैंने एक कुर्सी की ओर इशारा किया। कुर्सी पर बैठते हुए उन्होंने कहा, "भाभी, खाया-पीया तो मैंने भी कुछ नहीं। भाई साहब के बखेडे पर हमीं दोनों घाटे में रहे।" वे खिलखिलाकर हंस पड़े। मैंने उठते हुए कहा, "आप खाइए न, मैं लाती हूं।"

पर उन्होंने हठ ठाना—जब तक मैं नहीं खाती वे न खाएंगे। लाचार मुझे भी बैठना पड़ा। कुछ खाया, पर मेरा मन कहां-कहां भटक रहा था! कहां हैं वे? ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे मेरे प्राण उनमें उलझे हुए हों और वे उन्हें निर्दयता से दूर बैठे खींच रहे हों। मैं चाहती थी कि ये दिलीपकुमार यहां से चले जाएं और मैं जी भरकर रोऊं।

पर वे नहीं गए। मेरे कहने पर भी कहने लगे, "आपको अकेली छोड़कर कैसे जा सकता हूं, बड़ी खराब बात है—इतनी देर हो गई अभी नहीं आए।"

हजारों प्रश्न मेरा मन कर रहा था, पर मेरी वाणी जड़ थी। मैंने अपनी सारी शक्ति अपने आंसुओं को रोकने में लगा दी थी।

रामचरण पत्थर की मूर्ति की भांति बरांडे में चुपचाप खड़ा था। सब नौकर-चाकर जाकर सो रहे थे, पर यह एकनिष्ठ ब्राह्मण सेवक चुपचाप खड़ा था, कदाचित् मेरी वेदना का मूक भागीदार। उसकी उपस्थिति से मुझे ढाढ़स बंध रहा था। अन्ततः वे आए, मगर बदहोश होकर, और रामचरण ने उन्हें उठाकर पलंग पर डाल दिया। मेरा मुंह ठीकरे के समान काला हो गया। मैंने बाहर आ, दिलीपकुमार से कहा, "अब आप भी जाइए," और मैं उमड़ते आंसुओं के वेग को न संभाल

ारण भागकर अपने शयनगृह में घुस गई। न जाने कितना
ावट ने मेरा उपकार किया, मैं सो गई।
फिर साधारण प्रभात था। वे प्रसन्न और स्वस्थ चाय पर
ं उनके सामने जाना नहीं चाहती थी, पर उन्होंने बुला भेजा।
चुपचाप बैठ गई। केतली से प्याले में चाय उंडेलते हुए उन्होंने
हो, कैसा रहा तुम्हारा कल का जलसा? सब ठीक-ठाक रहा

जवाब नहीं दिया। उनकी बात में कितना अंश व्यंग्य का था
तना सहानुभूति का—यह मैं न जान सकी। परन्तु प्यार की तो
भी नहीं है, यह अवश्य जान गई। वह रात तो गत वर्ष के
थी, पर वह प्रभात वैसा न था। मुझे चुप देखकर उन्होंने चाय
को लेते-लेते कहा :

"चुप क्यों हो? क्या नाराज हो?"

"क्या मुझे आपसे नाराज होने का भी अधिकार है?" मैंने कहा।

"क्यों नहीं! पर मेरा कसूर पहले साबित करना होगा।"

"आपका कसूर? क्या एक औरत मर्द के कसूर पर भी विचार कर
ी है?"

"ज़रूर कर सकती है। यह तो स्त्री-पुरुष की समानता का युग
।"

"आप मानते हैं कि स्त्री-पुरुष समान हैं?"

"ज़रूर मानता हूं।"

"खैर, तो बताइए, कल आपने मेरे साथ अन्याय नहीं किया?
ते मेहमान आए, फिर आप ही न बर्दें, और आप गायब! कौन-
काम था भला, सुनूं तो?"

"क्या तुम्हें मेरे उपस्थित न होने का कारण नहीं ज्ञात हुआ?"

"हुआ—जब आपको उस हालत में घर आते देखा।"

"तो बस, यह मैंने तुम्हारी आज्ञा का पालन किया।"

"मेरी आज्ञा का?"

"भूल गईं तुम, तुमने कहा था—'आज यहां ड्रिंक न करना।'"

"सो तुमने और कहीं जाकर किया!"

निमन्त्रण मैंने किसीको नहीं दिया। घर दीपमालिकाओं से सजा हुआ था और टेबलों पर विविध पकवान सजे थे—पर मेहमान एक भी न था। मैं अकेली ही घर में थी। सब नौकरों को भी मैंने विदा कर दिया था। पर रामचरण नहीं गया था। वह मेरी सेवा में हाजिर था। प्रद्युम्न अब तीसरे बरस में था। उसे मैंने खिला-पिलाकर सुला दिया था। मैं छत पर बैठी उस दीपावली से आलोकित घर में कभी-कभी आकाश में बिखरे तारों को देख लेती थी। दिलीपकुमार आए। आते ही कहा "यह क्या ? क्या आज कोई मेहमान आए ही नहीं ?"

"ऐसा नहीं ! आप तो आ गए हैं।" मैंने एक फीकी मुस्कान होंठों पर लाकर कहा।

"लेकिन···लेकिन·······" उन्होंने मेरे मुंह की ओर देखकर अपना वाक्य अधूरा ही रखा। मैंने कहा, "आप अपने मित्र का क्या संदेश लाए हैं, कहिए।"

"भाई साहब आए ही नहीं अभी ? बड़ी खराब बात है। लेकिन···"

"लेकिन क्या, कहिए न ?"

"लेकिन यह तो बड़ी खराब बात है।"

"उनकी गैरहाज़िरी में औरों का आना और भी खराब बात होती।"

"शायद, पर भाभी, क्या आपने निमन्त्रण भेजा ही नहीं इस बार ?"

"क्या आपको निमन्त्रण मिला ?"

"नहीं। पर मेरी बात छोड़िए। लेकिन···"

मुझे हंसी आ गई, उस दुःख में भी। मैंने कहा, "खैर, लेकिन को छोड़िए, सबके हिस्से का आप ही खाइए-पीजिए।"

"नहीं, नहीं, मैं जाता हूं। भाई साहब को ले आता हूं। किन्तु आप ?"

"मेरे विषय में आप क्या कहते हैं ?"

"आपने भाभी, न साड़ी बदली न बाल बनाए।"

मुझे इसका ध्यान ही नहीं रहा।"

तो खैर, अब कपड़े बदल डालिए चटपट, तब तक मैं भाई साहब

दिलीपकुमार राय

पहली बार जिस दिन मैंने रेखा को देखा—उसी क्षण मैंने समझ लिया वह मेरी है, मेरे लिए है। विवाह जरूर उसका दत्त के साथ हुआ है। दत्त उसका पति है—पर मर्द उसका मैं हूं। आप जिस चरित्र की बात कहते हैं, मैं उसका कतई कायल नहीं हूं। इस सम्बन्ध में मेरे अपने अलग विचार हैं। मुझे इस बात की परवाह नहीं है कि मेरे विचारों का ताल-मेल दूसरों के विचारों से बैठता है या नहीं। मैं अपने ही विचारों को ठीक समझता हूं। मैं जिस विभाग में नौकर हूं उसका ठीक-ठीक काम परिश्रम से करता हूं। मेरे ऊपर काम की जिम्मेदारी भी है और परिश्रम भी मुझे करना पड़ता है। दोनों ही बातों को मैं ठीक-ठीक समझता हूं, ठीक-ठीक उन्हें अंजाम देता हूं। बिला शक गर्जमन्दों से मैं रिश्वत लेता हूं, उनके काम भी कर देता हूं। ऐसे काम आगे-पीछे होते ही हैं। मैं गर्जमन्द लोगों की इच्छा और आवश्यकता के अनुसार कुछ पहले कर देता हूं, कुछ बातें जान लेने में उन्हें सुविधाएं दे देता हूं—इससे मेरे आफिस की कोई हानि नहीं होती। इसका नजराना मैं गर्जमन्द लोगों से लेता हूं। नियम-कायदों की अपेक्षा मैं आदमी को महत्त्व देता हूं। नियम-कायदों को तोड़कर मैं आदमियों की सहायता करता हूं। मेरी नजर में यह आदमी की सेवा है। बस, बात इतनी ही है कि इस सेवा के बदले मैं उनसे नजराना लेता हूं, मुफ्त उनका काम नहीं करता। इसे लोग 'रिश्वत' कहते हैं। मैं ऐसा नहीं समझता। वे खुशी से देते हैं। मैं खुशी से लेता हूं। मूर्ख लोग कहते हैं: मनुष्य को त्याग करना चाहिए। मैं भी त्याग के महत्त्व को समझता हूं, परन्तु त्यागने की वस्तु को ही त्यागता हूं, ग्रहण करने की वस्तु को ग्रहण करता हूं। धन-दौलत- .. ने की नहीं, ग्रहण करने की वस्तु है। सो मैं उसे ग्रहण

करता हूं। वह मेरे काम आता है। उससे मैं अपनी खुशियां खरीदता हूं। मैं जानता हूं, दुनिया बड़ी टेढ़ी है। इसमें जलेबी जैसे बड़े दांव-पेंच हैं। उनमें फंसकर आदमी की खुशी हवा हो जाती है; वह परेशानियों में, मुश्किलों में फंस जाता है। पर मैं यह भी जानता हूं कि आदमी की सबसे बड़ी दौलत उसके दिल की खुशी है। वह आदमी को अकस्मात् ही भाग्य से मिल सकती है, यह मैं नहीं मानता। मैं तो हर वक्त उसकी ताक में रहता हूं, जहां और जैसे मिले मैं उसे प्राप्त कर लेता हूं। पर बहुधा मुझे वह खरीदनी पड़ती है। खरीदने के लिए रुपया बहुत आवश्यक और कीमती चीज है, इसलिए मैं रुपये को बहुत प्यार करता हूं और उसकी प्राप्ति का कोई अवसर नहीं चूकता हूं। हां, यह जरूर देख लेता हूं कि कोई खतरा या उलझन न सामने आ जाए। अपनी खुशियां खरीदने के लिए मैं रुपया लेता हूं। यदि उसमें खुशी ही खतरे में पड़ जाए तो मैं उस रुपये को छूता नहीं हूं। इस प्रकार रुपये-पैसे का लेन-देन मैं पूरी सावधानी और समझदारी से करता हूं।

अभी मैं जवान हूं और मर्द हूं। तन्दुरुस्त हूं। तबियत भी रखता हूं और बुद्धि भी। आफिस में बहुत बुद्धि खर्च करनी पड़ती है। उसमें मुझे कुछ भी लुत्फ हासिल नहीं होता। पर वह नौकरी है। उससे रुपया भी मिलता है, इज्जत भी है। उसीसे समाज में मेरा एक स्थान है। मैं सुप्रतिष्ठित हूं, इसीसे वहां हाड़ तोड़कर परिश्रम भी करता हूं, बुद्धि भी खर्च करता हूं। पर सबकी सब नहीं। बुद्धि का एक भाग अपने लिए बचाकर रखता हूं, उसे मैं अपनी खुशी खरीदने में खर्च करता हूं।

औरत मर्द की सबसे बड़ी खुशी का माध्यम है। एक तन्दुरुस्त जवान मर्द के लिए औरत एक पुष्टिकर आहार है—शारीरिक भी, मानसिक भी। मर्द यदि औरत को ठीक-ठीक अपने में हजम कर लेता है तो फिर उसका जीवन आनन्द और सौन्दर्य से भर जाता है; उसका जीवन हरा-भरा रहता है। उसके मन के हौसले बढ़ जाते हैं और शरीर में शक्ति का ज्वार आ जाता है। इसीसे औरत की मेरी नजर में बहुत कीमत है। मैं उसे मर्द की सबसे बढ़कर दौलत समझता हूं, और अपनी पसन्द की औरत को खरीद लेने का कोई मौका चूकता नहीं हूं। कीमत चुकाने में कंजूसी करता नहीं हूं। पर मुश्किल यह है कि अच्छी औरत

का मिलना मुश्किल है। विवाह के बोझ ने औरत को बदनाबूर कर दिया है। मेरा सम्बन्ध विवाहिता औरतों से भी है, अविवाहिताओं से भी है। जो विवाहिता हैं वे विवाह से परेशान हैं। जो अविवाहिता हैं वे विवाह के लिए परेशान हैं। विवाह जैसे औरत के लिए एक मजबूरी बन गई है। विवाह होने में औरत की सार्थकता है—ऐसा सब मानते हैं। पर मैं तो यह देखता हूं कि विवाह होते ही औरत खत्म हो जाती है। आप लोग, खासकर महिलाएं नाराज हो जाएंगी मेरी बात सुनकर—पर मेरी खुली राय है कि विवाह होने पर औरत मरी हो जाती है। विवाह होते ही पहले उसे पति का, फिर उसकी गृहस्थी का और उसके बाद उसके बच्चों का बोझ ढोने में ही अपनी सब जिन्दगी खत्म कर देनी पड़ती है। इसी काम में उसकी समूची शारीरिक और मानसिक शक्ति खर्च हो जाती है। वह किसी काम की चीज नहीं रह जाती। उसका सब जादू खत्म हो जाता है। और वह एक दयनीय जानवर की भांति अपना शेष जीवन व्यतीत करती है, जहां उसका अपना कहीं कुछ नहीं होता: वह पति नामधारी एक स्वेच्छाचारी व्यक्ति की दुम बन जाती है। राई-रत्ती अपना समूचा रस, शृंगार-आकर्षण और जादू वह उसीके चारों ओर बखेरते-बखेरते खोखली हो जाती है। और तब आप देखिए, वह दुनिया की सबसे ज्यादा भद्दी और निकम्मी चीज रह जाती है कि जिसके मर जाने का अफसोस एक पालतू जानवर से अधिक नहीं होता। बड़ी कड़वी और अटपटी लग रही होंगी मेरी ये बातें आपको। पर यह मेरी निजी राय है। मेरे अपने विचार हैं। क्या जरूरी है कि आप इनसे सहमत हों, इन्हें पसन्द करें? अच्छा तो यही है कि आप इन्हें पढ़े ही नहीं।

ऐसा मैं बात कहता हूं। वह एक औरत है, लाखों में एक। छरहरा बदन, उफनता यौवन, प्यासी आंखें, और दान को उतावले होंठ। चम्पा की कली के समान कमनीय उंगलियां, एड़ी तक लटकती घुंघराली लटें, चांदी-सा उज्ज्वल माथा। अनार की पंक्ति के समान दांत और चांदनी-सा हास्य। वाह, इसे कहते हैं औरत, जिसे देखते ही आंखों में नशा छा जाता है! अभी तक मैंने उसे छुआ नहीं, पर फूलों के ढेर के बह कोमल है। जब वह बोलती है, रुनक-झुनक घुंघरू बज उठते। बात-बात में उसका चेहरा रंगीन हो जाता है। आंखें चमकने

है। प्यार का एक झरना है जो उसकी हर अदा में झर रहा है,
ह बिना कैसे रहा जा सकता है भला ? और उसे देखकर फिर
उसे देखने को मन हो सकता है।
दत्त मेरा दोस्त है, पुराना दोस्त। भला आदमी है, पर इससे
? क्या इसीसे वह रेखा जैसी औरत का पति होने योग्य माना जा
ा है ? रेखा से उसका ब्याह हुआ है। दूसरे शब्दों में, रेखा को उस-
-बाप ने दत्त की पतलून की जेब में डाल दिया है। वह एक रूमाल
भांति उसका इस्तेमाल करता है; जब-तब मुंह का पसीना धूल-गर्द
द लेता है। उसे पाकर रेखा को क्या मिल सकता है भला।
दत्त सांड की भांति तन्दुरुस्त है, प्रतिष्ठित और विचारशील है।
पद रेखा को प्यार भी करता है। सबसे ऊपर वह उसका विवाहित
र है। पर इसीसे क्या वह रेखा का सब कुछ हो गया ? अच्छा मान
लया कि वह रेखा को प्यार करता है, पर क्या यह भी माना जा सकता
कि वह रेखा के प्यार का आनन्द भी लेने की योग्यता रखता है ?
ने ऐसे कुछ पति देखे हैं जो अपनी पत्नियों को थोड़ा-बहुत प्यार करते
हैं, पर आज तक ऐसा एक भी पति नहीं देखा जो अपनी पत्नी के प्यार
का पूरा आनन्द ले सकता हो। इन मूढ़ पतियों को, जो अपनी पत्नियों
को अपनी जिन्दा दौलत समझते हैं और हिफाजत से घरों में दबोच
रखते हैं, भला औरत का प्यार कैसे मिल सकता है ? उन्हें तो औरत की
खीज और विरक्ति ही पल्ले पड़ेगी। सभी जगह मैंने यही देखा है।
रेखा के प्यार का आदि-अन्त नहीं है। पर वह उसे संजोए किसी-
को अर्पण करने के लिए उत्सुक खड़ी है। वह समझती है कि दत्त—
उसका पति ही उसका हकदार है। यह उसकी अपनी समझ नहीं है,
उस समाज की परम्परागत समझ है जिसमें वह पली है; वह चाहती है
कि एक बार उसका वह पति उसके प्यार पर नजर डाले और वह उसे
उसपर न्योछावर करके अपना नारी-जीवन धन्य करे। पर दत्त को उस
ओर देखने की अभी फुर्सत ही नहीं मिली है। यह मैं आज पांच साल से
देखता चला आ रहा हूं। शायद प्यार की परख ही उसे नहीं है। वह एक
बैल है जो अपने आफिस में जुटा रहता है। रेखा उसकी पत्नी है, उसके
घर की चहारदीवारी में सुरक्षित है—उसका शरीर उसके लिए रिजर्व

बस, उसके लिए यही काफी है। वह गधा यह नहीं जानता कि रेखा
नी ही नहीं एक औरत भी है। पत्नी और औरत में क्या अन्तर है,
ा शायद समझने का शऊर भी दत्त को नहीं है। औरत की भूख भी
प शबे में नहीं है। मैंने तो नहीं सुना, कभी कहीं उसने किसी औरत
। पसन्द किया हो, आंख उठाकर देखा हो, औरत में आनन्द की अनु-
नि की हो। अपने आफिस में वह एक परिश्रमी सांड है, और घर में
क मूर्ख असावधान पति। फिर रेखा उसमें सुख कैसे रह सकती है!
व तक वह अपने छकड़ा-भरे पाप को लिए बैठी रहेगी, इस प्रतीक्षा में
- वह उसकी ओर देखे और वह उसे उसको समर्पित करे। पर वह कर
। क्या सकती है? मैंने उसे रोते देखा है। कैसे अफसोस की बात है!
प्यार से लबालब आंखें आंसुओं से तर हों, चुम्बन के अभिलाषी होंठ
ुग से सिकुड़ जाएं। उमंगों से भरा हुआ दिन बैठ जाए! और इसी
स में। भई, मैं तो हमेशा से यही कहता रहा हूं कि यह विवाह जैसी
मुराद चीज़ दिलों को मसोस डालने के लिए ही है। इससे किस दिन
ुछ पाया!

पांच साल हो गए, पर आज तक रेखा ने मेरी ओर आंख नहीं उठाई
ो, जिसका मैं इन्तज़ार सदैव करता रहा हूं। बहुत औरतों के प्यार का
ानन्द मैंने प्राप्त किया, पर इतनी प्रतीक्षा किसीकी न करनी पड़ी।
' जब उसे भाभी कहता—तो उसके जवाब में जो कुछ उसकी आंखों में
ाना चाहता, नहीं पाता था। आज पांच साल बाद मेरी वह अभि-
ाषा पूरी हुई। आज उसकी आंखों में मैंने वह चीज़ देखी जिसकी मुझे
तीक्षा थी। अब तो रेखा मेरी ही है। ओफ, कितने आनन्द की बात
! खुशी से मेरे खून की एक-एक बूंद नाच रही है!

मैं भी पीता हूं, पर दत्त की भांति गधा बनकर नहीं। रेखा के लिए
ह मूर्ख शराब नहीं छोड़ सका। अब रेखा गई उसके हाथ से। लोग
मझते हैं, विवाह करते ही औरत आ गई हमारे हाथ में। पर मैं जानता
—भी मैं एक भी पति औरत को अपना नहीं सका। सामाजिक बंधन
हुत पुराने हैं, बहुत मज़बूत हैं। उन्होंने औरत को पत्नी बनाकर, पति
े साथ खूब कसकर बांध दिया है। छूट नहीं सकती वह उससे। पर
समें कुछ लाभ थोड़े ही हुआ! वह गले का हार न होकर सिल हो

गले में बंधी है, और जिसका असह्य भार पति को जिन्दगी-भर
ही होगा। इसीसे लोग गृहस्थी को एक जंजाल कहते हैं। उसमें
छटपटाते हैं, या मूंड मुड़ाकर भाग खड़े होते हैं। काश, ये औरत
चान पाते, औरत का प्यार पा सकते, और जिन्दगी का लुत्फ
!
समाज ने औरत के तन को ही विवाह-बन्धन में बांधा, मन को
पर ऐसा बांधा कि कसाइयों को भी मात कर दिया। धर्म कह-
धर्म की हद कर दी। मुर्दे के साथ जिन्दा औरत को फूंक दिया।
दियों तक फूंकते रहे, और उसे सती कहकर सराहते रहे। पर
क्या औरत का मन जीता गया? औरत, जो दुनिया की एक
मत है, जिसकी हस्ती से दुनिया रंगीन बन जाती है—एक जाने-
ल बन गई। कितने महात्माओं ने औरत को विष की बेल कहा, उसे
देने की सलाह दी, कितने सन्तों ने स्त्री-सम्पर्क को एक पाप
ाया; परन्तु अफसोस, उस सचाई को कोई न परख सका जो प्रकृति
हमारे सामने रख दी थी। हमने औरत को अपने समाज की छाती का
थर बनाकर रखा, उसे आदमी के गले का हार न बना सके।
कहते हैं, श्रीकृष्ण की सोलह हज़ार रानियां थीं। पर वे सब अकेली
धा को न पा सकीं। राधा सबसे ऊपर सबसे आगे रही—कृष्ण से भी
पर। कौन थी वह राधा? कृष्ण की पत्नी नहीं थी। कृष्ण उसके पति
थे, सखा थे; और राधा थी सखी। यह सख्य-भाव कितना पनपा!
कृष्ण ने राधा का प्यार पाने के लिए अपनी आंखें राधा के तलुओं में
बिछा दीं; देहि में शिरसि पदपल्लवमुदारम्। कौन पति अपनी पत्नी के
तलुओं में आंखें बिछाता है! कौन उसके चरणों में नतमस्तक हो उसके
महावररंजित चरण अपने मस्तक पर रख देने की उससे प्रार्थना करता
है? यह पतियों की जमात गधों की जमात है। वे पत्नियों को अपनी
दाल-रोटी की भांति खाते रहते हैं—जब तक कि वह मर-मिट नहीं
जाती। औरत का प्यार तो शायद ही किसी पति को मिलता होगा।
मैं भी माया का पति हूं। अब से नहीं—बाईस बरस से। पर मैंने
उसका प्यार पाया, यह मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता। शायद नहीं
पाया। मेरा पति होना ही इसमें सबसे अधिक बाधक हुआ। अपने पति-

पने की ऐंठ में मैंने कभी उसे आत्मसमर्पण नहीं किया और मन की गांठ न खुलने से वह भी मुझे आत्मसमर्पण न कर सकी। अब वह मेरे बस की ही नहीं रही। कितना झगड़ा-टंटा हुआ, कलह हुई, पर बात बनी कुछ नहीं—बिगड़ती चली गई। हममें अब मेरी उसमें बोलचाल बन्द रहती है। दूसरों को देखकर उसकी वाणी में जो मृदुता और होंठों पर हंसी आती है वह मुझे देखते ही वर्षा की धूप की भांति गायब हो जाती है। मैं जानता हूं, प्यार उसके पास बहुत है। वह एक दिलदार औरत है। काश कि वह मेरी पत्नी न होकर सखा होती, तो जीवन का लुत्फ वह भी उठाती और मैं भी। पर अभिमान और संदेह की एक दीवार, जो हम दोनों के बीच बन गई है, उससे वह अपना प्यार सड़क पर तो बहाती है पर मुझे नहीं देती।

मैं जानता हूं—प्यार का भी मूल्य चुकाया जाता है। वह समझती है कि मैं उसके प्यार का मूल्य नहीं चुका सकता। उसका ऐसा समझना गलत भी नहीं है। इसके बीच में बहुत-सी बातें हैं। कुछ कहने के योग्य नहीं हैं, पर एक बात तो है। सब पतियों की भांति मैं समझता हूं कि एक बार पत्नी के रूप में उसे ग्रहण करने पर मैंने उसके समूचे प्यार का मूल्य एडवांस में ही चुका दिया है। अब तो वह प्यार मेरी ही सम्पत्ति है। इसीपर उसका विद्रोह है। मैं समझता हूं, विद्रोह ठीक ही है—सभी पति तो यही समझते हैं। औरत भी समझ जाती है—मेरा यह प्यार तो बिक चुका; अब इसपर मेरा अधिकार ही नहीं रहा। परन्तु बिक्री का दाम तो नगद कुछ मिला नहीं, इसीपर वह विद्रोह करती है—उसमें से प्यार चुरा-चुराकर औरों को बेचती है, और उसका जो दाम मिलता है, कम या ज्यादा, उसीसे अपना काम चला लेती है।

एक बात मैं और कहूं, जिसे मैंने बड़े ही परिश्रम से जाना है। औरत को अपने-आपसे बहुत कम प्यार होता है। वह अपने को प्यार करती ही नहीं, यह उसका दुर्भाग्य है। इसीसे वह बात-बात पर जान देने पर उतारू हो जाती है। बहुत-सी तो जान दे ही देती है। अपने को प्यार करनेवाली औरतें विरल ही मिलती हैं। उनकी शिक्षा-दीक्षा, सामाजिक स्थिति सब ऐसी है जो उन्हें अति क्षुद्रदृष्टि बनाए रखती है। वे न जीवन के ठीक-ठीक महत्त्व को समझ पाती हैं, न जीवन के सच्चे

आनन्द का उन्हें भोग प्राप्त होता है। काश ! औरत को विवाह-बन्धन में जकड़कर उसे परकैंच न कर दिया होता। वह फसकर पति की दुम के साथ न बांधी गई होती। रंगीन तितली की भांति वह मधु-लोलुप भौंरों के साथ केवल रसपान करती, जीवन का आनन्द लेती और देती। देवी नाम सार्थक करती।

रेखा

मेरे विवाह से पहले ही से राय की दत्त से मित्रता है। दत्त उन
सदा खुश रहे हैं। जहां तक मैं जानती हूं, वे दत्त के सबसे निकट
अन्तरंग मित्र हैं। इसीसे प्रारम्भ से ही मैंने उनका एक आत्मीय
भांति सत्कार किया। वे भी मुझे 'भाभी' कहते रहे। यह भाभी
अजब रिश्ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भाभी में देवरों का कु
हिस्सा रहता है। पत्नियां पति से भीत-शंकित रहती हैं, पर देवर
नहीं। वे निस्संकोच देवरों पर अपनी फरमाइशें जड़ती रहती हैं और
खुशी से उनकी पूर्ति करते हैं। पति वह गडरिया है, जो डंडा मारक
भेड़ की भांति पत्नी को हांकता है। वह केवल शासन करता है—प्रेम
भावना प्रकट नहीं करता। पत्नी पर शासन करना उसका जन्मसि
अधिकार है। उसकी कामचेष्टा भी मुर्गे के समान है जो एक प्रकार क
बलात्कार ही है। वह कबूतर की भांति कबूतरी की खुशामद नह
करता। स्त्री प्रेम की भूखी है और उसकी यह भूख कितनी तीव्र है
इसपर पति कभी विचार नहीं करता। पति पत्नी पर नाराज भी होत
है, जवाब भी तलब करता है, अनुशासन भी रखता है। पर देवर
अनुशासन रखता है, न नाराज होता है, केवल हंसकर भाभी की सब
अभिलाषाएं पूर्ण करता है। यह भाभी सम्बोधन भी कितना मधुर है!
फिर वह किसी सुन्दर, सभ्य और भावुक तरुण के मुख से सुन पड़े तो
और भी मीठा हो जाता है।

राय तरुण नहीं हैं। मेरे पति से उनकी उम्र कुछ अधिक है। कायदे
के अनुसार वे मुझे भाभी कहने का अधिकार नहीं रखते। पर मुझीसे के
लिए भाभी ही का रिश्ता उन्होंने जोड़ा है—और इस भाभी के रिश्ते
को निभाने के लिए उन्होंने दत्त को बड़ा भाई मान लिया है। यद्यपि

दत्त उनसे उम्र में छोटे है। दत्त को इस नये रिश्ते से कुछ भी मापत्ति नही हुई। जब उन्होंने ब्याह के बाद मुझे देखकर भाभी कहा था तो दत्त ने हँसकर कहा था, 'अच्छा रिश्ता जोड़ा तुमने राय, इसमें अच्छा मुभीता रहेगा। रेखा तुमसे अच्छी तरह बातचीत कर सकेगी। लेकिन अब मुझे भी तुम्हारे कान मलने का अधिकार प्राप्त हो गया है।'

दोनों मित्र इसपर खूब हँसे थे। पांच साल तक वे बराबर हमारे घर आते रहे। इस बीच उन्होंने कोई अमर्यादित चेष्टा मेरे समक्ष नहीं की। पर उनकी आंखों में कभी-कभी एक ऐसी चमक अवश्य दीखती थी कि उसे देखकर मेरी आंखें झेंप जाती थीं। मेरे हृदय पर एक धक्का-सा लगता था और मैं वहां खड़ी नहीं रह सकती थी। पर वह चमक, वह दृष्टि बड़ी आकर्षक थी, बड़ी प्रभावशाली थी। मैं उससे डरती थी पर जब वे आते, मैं उसी चमक को एक बार फिर उनकी आंखों में देखने की अभिलाषा रखती रही थी। और फिर मुझमें उसे क्षण-भर देखते रहने की हिम्मत भी हो गई।

कभी-कभी वे माया के साथ आते थे, परन्तु बहुधा अकेले। ऐसा भी हुआ कि वे रात को आए, दत्त उस समय घर पर न थे। वे बड़ी देर तक बैठे रहे। गपशप करते रहे। बातचीत उनकी बड़ी दिलचस्प होती थी। उनकी बातें सुनकर तबियत ऊबती नहीं थी। कभी-कभी तो दिल में गुदगुदी होती थी। खास कर तब, जब बीच-बीच में वही चमक उनकी आंखों में दीख पड़ती थी। अब ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते थे और हमारा परिचय पुराना होता जाता था, उस चमक के साथ एक हास्य उनके होंठों पर और एक याचना उनकी दृष्टि में प्रकट होने लगी थी। मैं नहीं कह सकती कि उस हास्य और याचना को देखकर मन में जो सिहरन उत्पन्न होती थी, वह कैसी थी—पर उसका इतना प्रभाव तो स्पष्ट ही था कि उसे बारम्बार देखने को मन होता था। अब अज्ञात ही मैं उनके आने पर अपने शरीर और कपड़ों की व्यवस्था का ध्यान करने लगी। न जाने किस अज्ञात शक्ति से मुझ उनके आने का पता लग जाता था—और मैं अपने बाल बनाने और साड़ियों का चुनाव करने लगती थी। और उस दिन उनके पांचवें वर्ष के पर, जब दत्त की गैरहाजिरी के कारण मैं मन-मलिन बैठी थी और मैंने दिन-भर के परिश्रम के बाद

कपड़े तक नहीं बदलने थे, तब उन्होंने मुझसे बाल बनाने और साड़ी बदलने का अनुरोध किया। यह अनुरोध कोरा अनुरोध ही न था, उसके साथ वही चमक उनकी आँखों में थी, परन्तु उस चमक के साथ उनके होंठों पर वह अनुगामी हास्य न था—न दृष्टि में वह याचना थी। अपितु, उसके स्थान पर एक तीव्र पिपासा थी, जिसे देखने पर मैं संयत न रह सकी। एक आसुरी तीव्र वासना का ज्वार जैसे मेरे खून में उमड़ आया। और मैंने उस क्षण ऐसे चाव से शृंगार किया कि जैसा आज तक अपने जीवन में नहीं किया था।

दत्त से विवाह हुए अब मुझे पांच साल बीत चुके थे, उनके लिए न जाने मैंने कितने शृंगार किए, और उन्होंने काव्यमयी भाषा में उन्हें न जाने कितने बार सराहा; परन्तु उन सब शृंगारों में और इसमें अन्तर था। उन सबमें संकोच था, लज्जा थी, यत्किंचित् निरानन्द भी था, पर यह शृंगार मेरी उद्दाम वासना का शृंगार था। यह उद्दाम वासना उस एक ही क्षण में न जाने कहां से मेरे मन में आ बसी थी। मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि जैसे मुझे बुखार चढ़ा है; और अब नया शृंगार करके मैं उनके बिलकुल निकट, इतनी कि जितनी आज तक कभी नहीं गई थी, जा पड़ी हुई तो मैंने देखा—उनकी आंखों की वह प्यास और चमक एक हिंस्र पशु की चमक में बदल चुकी थी। उसने क्षण-भर में मुझमें एक नशे का आलम पैदा कर दिया। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि जैसे यह आदमी अभी-अभी मुझे निगल जाएगा। और मैं भी न जाने किस भाव से अभिभूत होकर मन ही मन कह उठी—लो निगल जाओ, खा जाओ, जो जी चाहे सो करो। उस समय उनका वक्ष मेरे वक्ष से सट रहा था और उनके दिल की धड़कन मुझे ऐसी लग रही थी जैसे हज़ारों तोपें दनदना रही हों। और मैं अनुभव कर रही थी कि उन्होंने मुझे अपने में समेट लिया है।

इतने ही में दत्त आ गए। वे नशे में थे, पर आज अपेक्षाकृत होश-हवास में थे। राय के सामने भी और उनके जाने के बाद भी उन्होंने मुझसे प्रेमालाप किया; पर उससे मुझे ज़रा भी खुशी न हुई, ज़रा भी मेरे मन में उत्साह न जगा। काश, वे बेहोशी की हालत में आते। और राय? ओफ मैं क्या कहने जा रही हूं! मेरी ज़बान टूट क्यों नहीं

जाती ! !··· मैं मिट्टी के एक लोथड़े की भांति उनके अंक में पड़ी रही, रात-भर। उनका अंकपाश मुझे ऐसा लग रहा था जैसे किसीने मुझे जंजीरों में कस लिया है, और जैसे मेरा दम घुट रहा है। शराब में यदि दत्त धुत न होते तो मेरी उस विरक्ति को वे अवश्य ही भांप जाते। परन्तु उस दिन तो वे कुछ प्रायश्चित्त-सा कर रहे थे, अनुताप-सा कर रहे थे। प्रेम भी जता रहे थे, पर वे सब बातें, उनकी वे सब चेष्टाएं मुझे असह्य-सी लग रही थीं। और मैं झूठमूठ सोने का बहाना बनाकर ···ाप की उन आंखों की प्यास का नजारा देख रही थी, उसका लुत्फ ···ठा रही थी।

सुबह जब उन्हें ज्ञात हुआ कि मैंने इस बार किसीको निमन्त्रित ···ी नहीं किया तो वे बहुत बिगड़े। मैंने भी मुंहतोड़ जवाब दिया। लौंडी नहीं हूं। मोल खरीदकर नहीं लाई गई हूं। अत्याचार कब तक सहूं? अन्याय भी हो और डांट-फटकार भी! चोरी भी और सीनाजोरी भी! नहीं, मैं बर्दाश्त नहीं करूंगी, मैंने यह ठान ली।

कबूल करती हूं, दत्त का प्यार थोथा प्यार नहीं, सच्चा प्यार है। मैं स्वीकार करती हूं—वे सचमुच मुझे प्यार करते हैं। मैं यह भी कह सकती हूं कि इधर-उधर दूसरी औरतों की ताक-झांक करने की उनकी आदत नहीं है। उनमें यदि कोई दोष है तो यही कि वे शराब पीते हैं, मात्रा से अधिक, और रात को देर तक घर से गैरहाजिर रहते हैं; मुझे अकेली उनकी प्रतीक्षा में आंखें बिछाए बैठा रहना पड़ता है। बहुधा मुझे रोना भी पड़ा था, और उससे मेरा मन उनके विरुद्ध वितृष्णा से भर गया था। और उनके लिए मेरे मन में प्यार भी खत्म हो गया, एक बूंद भी न रहा, यह मैंने उसी दिन जाना।

उसके दूसरे ही दिन राय आए। अभी चिराग नहीं जले थे और दत्त के आने का अभी समय नहीं हुआ था। मैं सोफे पर पड़ी तड़प रही थी। मेरे रक्त की प्रत्येक बूंद में राय ऊधम मचा रहे थे। राय और दत्त दोनों की मानस-मूर्तियां जैसे मुझे पाने को द्वन्द्व कर रही थीं—मैं दत्त को पीछे धकेल रही थी और राय में समाती जा रही थी। कमरे में प्रकाश था कोई नौकर-चाकर वहां न था। राय आए, झपटते हुए—जैसे चीता आता है निःशब्द, और उन्होंने झपटकर मुझे अपने अंकपाश

दत्त

यह हो क्या गया है रेखा को ? फूल के समान कोमल उसका आलिंगन लकड़ी के समान सख्त हो गया है। वह कुछ खोई-खोई-सी रहती है। उसके नेत्रों में भी एक विचित्रता देखता हूं। अब वह मुझसे आखें मिलाकर बात नहीं कर सकती; जैसे उसे मेरी ओर देखने का चाव ही नहीं रहा हो। सिर्फ नपे-तुले शब्द बोलती है और कुछ कहते-कहते जैसे कुछ भूल जाती है, घबरा जाती है, चौंक पड़ती है। कभी-कभी अकस्मात् ही भय की एक आर्त चितवन मैं उसके नेत्रों में देखता हूं, जैसे अचानक किसी भयानक घटना को देखकर उत्पन्न हो जाया करती है। मैं तो अब कभी उसके साथ सख्त बात भी नहीं करता, यत्नपूर्वक उसे प्रसन्न रखने की चेष्टा करता हूं। फिर भी वह मुझे देखकर डर क्यों जाती है? पहले तो ऐसा नहीं होता था—मुझे देखते ही उसकी आखें कमल के समान खिल जाती थीं; अग में फुर्ती-चुस्ती आ जाती थी, होंठ अधिक लाल हो उठते थे, कभी-कभी तो फड़कने-से लगते थे। ऐसा प्रतीत होता था, चुम्बन का निमन्त्रण दे रहे हैं। तब तो मैं उसकी ओर से असावधान ही था—इस प्रकार मानो मेरी कीमती धरोहर, भारी रकम हिफाजत से मेरे घर में रखी है, उसकी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। इसके बाद ही मैंने अपने अन्यायाचरण पर भी विचार किया। कबूल करता हूं, यह शराब ही मेरे-उसके बीच बाधा बनी। मैं समय पर घर नहीं आता था। मैंने कभी इस औचित्य पर ध्यान नहीं दिया। पर अब तो मैं बहुत ध्यान रखता हूं। उसे प्रसन्न रखने के सब सम्भव उपाय करता हूं; पर ऐसा प्रतीत होता है जैसे-जैसे मैं उसे बटोरता हूं, वह बिखरती है, बेकाबू होती जाती है।

क्या उसे कोई दुःख है ? बहुत बार मैंने पूछा है, पर सदैव उसने

कहा—'नहीं'। पर उसका यह 'नहीं' कितना ठंडा है कि एक शब्द के सुनते ही मेरा हृदय ठंडा हो जाता है। बहुधा तो वह जवाब देती ही नहीं। उसकी हर चेष्टा से मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मेरी उपस्थिति अब उसे उतनी प्रिय नहीं प्रतीत होती। कभी-कभी तो असह्य-सी लगती है। क्या बात है यह? इसकी जड़ भी कुछ अज्ञात है। क्या उसका मन प्रद्युम्न में लगा है? पति से अधिक क्या पुत्र पर उसका प्रेम केंद्रित हुआ है? यह तो मेरी ईर्ष्या का विषय नहीं होना चाहिए। पर नहीं, नहीं, ऐसी बात भी नहीं है। प्रद्युम्न को लेकर पहले वह जिस उत्ता से मेरे निकट आती थी, अब कहां आती है! वह तो जैसे अब मुझे देखकर छुई-मुई-सी सिकुड़ जाती है, जैसे वह मेरी पत्नी नहीं, कोई गैर औरत है। देर से घर में आने पर पहले वह गुस्सा करती थी, कभी मौन और कभी कहती-सुनती भी थी। उसका गुस्सा मुझे अच्छा लगता था, उसमें उसके घट-टे प्रेम का पुट था। पर अब तो वह कुछ भी नहीं कहती; जैसे मेरे घर में आने-जाने से उसका कोई वास्ता ही नहीं रहा। उस दिन मैंने उससे पूछा कि क्या वह बीमार है, तो इसका भी उसने वही ठंडा जवाब दे दिया, 'नहीं।' देख रहा हूं कि मुझमें उसकी दिलचस्पी कम हो रही है।

राय के नाम से वह चौंकती है, स्थिर नहीं रह सकती। प्रसंग छिड़ते ही चल देती है। क्या बात है यह? राय से क्या उसे चिढ़ है? बेचारा भला आदमी है, खुशमिजाज है, मेरा पुराना दोस्त है। वह सदैव मुझे और उसे भी प्रसन्न करने की चेष्टा करता रहता है। उसने क्या रेखा को नाराज कर दिया है? ऐसा आदमी तो वह है नहीं। इधर वह आता भी कम है, और जब आता है, प्रद्युम्न के साथ खेलता रहता है। खूब घुटती है प्रद्युम्न से उसकी। परन्तु इसमें तो रेखा के नाराज होने की कोई बात ही नहीं है।

कई दिन से मैं मन ही मन घुट रहा था। मैंने आज ठान लिया था आज खुलकर बात करूंगा। आखिर मैं उसका पति हूं, उसके सुख-दुख की मुझे ही [illegible] लेनी चाहिए। और मैंने उससे कहा, "रेखा, क्या बात है [illegible] हो तुम?"

"[illegible]?" एक फीकी हंसी हंसकर उसने

कहा और आँखें नीची कर लीं।

मैंने कहा, "सचमुच तुम वह रेखा नहीं हो, बहुत बदल गई हो। बताओ क्या बात है, क्या तुम मुझसे नाराज हो?"

"नहीं।" इतना कहकर वह जाने लगी। मैंने रोककर कहा, 'ठहरो!' तो वह मुंह फेरकर चुपचाप खड़ी हो गई, जैसे सचमुच कोई पर-स्त्री हो। क्या यह वही रेखा है जो बात-बात में हंसती थी, हंसते-हंसते जिसके गाल में गड्ढे पड़ जाते थे, जो बात में बात निकालती थी! जब किसी बात पर जिद करती थी, गले में दोनों हाथ डालकर झूल जाती थी और जरा-से अनुग्रह पर तड़ातड़ चुम्बन करने लगती थी। 'तुम बहुत ही अच्छे हो,' उसका यह वाक्य कितने गहरे निश्वास से निकलता था। पर अब क्या? अब तो वे सब बातें हवा हो गई। तब उसकी याद-मात्र करके रगों में लहू गर्म हो जाता था। दफ्तर के काम में थकावट ही नहीं प्रतीत होती थी। जब घर लौटने का समय होता था तो खून की एक-एक बूंद नाचने लगती थी···किन्तु अब तो अवसाद ही अवसाद है—ठण्डा और बासी।

मैंने उठकर उसे निकट बुलाया, गोद में बिठाकर प्यार किया। बहुत कहा, बहुत कहा, "दिल की बात कहो, दिल की घुण्डी खोलो, क्या हुआ है तुम्हें? क्या तकलीफ है तुम्हें? क्या चाहती हो तुम?" किन्तु सबका जवाब वही—'कुछ नहीं', उसी प्रकार मुंह फेरकर। ओफ, कितनी ठण्डी थी वह 'कुछ नहीं'! जैसे छुरी की नोक हो। गुस्सा आ गया मुझे। मन हुआ कि फेंक दूं उठाकर। शायद वह भी मेरे मन की बात जान गई और आहिस्ता से मेरे अंकपाश से निकलकर चुपचाप बैठ गई, उसी भांति मुंह फेरकर!

मैं बिना ही खाए-पिए आफिस चला गया। मैं कैसे बर्दाश्त करूं यह सब? आखिर मेरा दोष भी तो हो। मैं तो रेखा को दिल से प्यार करता हूं। मैं इस बात पर गर्व भी कर सकता हूं कि मेरे जैसा प्यार अपनी पत्नी को सब कोई नहीं कर सकते। बेशक मैं कुछ लापरवाह अवश्य हूं। पर हम पति-पत्नी हैं। दिखावे की हम लोगों को क्या जरूरत है? क्या हम अब अपने प्यार को भी नाप-तोलकर देते-लेते रहें? मानता हूं—मैं ड्रिंक करता हूं। पर यह मेरी पुरानी आदत है। वह इसे नहीं पसन्द

फिर भी उसमें तुक्स है, मैं स्वीकार करता हूं। कभी-कभी ज्यादती हो ही जाती है और मैं 'ओवर डोज' हो जाता हूं। पर इससे मैंने आज तक किसीका कोई नुकसान नहीं किया। विदेश में मैंने देखा है, रात को पीकर एकदम बदहवास पति को लेकर जब उसके दोस्त उसके घर पहुंचते हैं, तो उसकी पत्नी उसे महज एक विनोद ही समझती है। वह पति के मित्रों का हंसकर स्वागत करती है। और अधिक से अधिक एकाध उलाहना देकर पति को छुट्टी दे देती है। दूसरे दिन उनके नये प्यार का, नये आनन्द का दिन होता है। मैंने तो नहीं देखा, कहीं कोई पत्नी केवल ड्रिंक को लेकर ही महाभारत खड़ा कर दे। रेखा को मैं प्यार अवश्य करता हूं, पर मैं उसकी गुलामी तो बर्दाश्त नहीं कर सकता। यह रेखा की ज्यादती है, फिर भी अब तो मैं उससे डरने ही लगा। उसी दिन की बात लो, दोस्तों का भी बुरा बना, सोसाइटी में गवार कहलाया और सबको छोड़कर भाग आया। सो यह बेरुखी उसीका नतीजा है।

उस दिन मेरा बर्थडे था। दोस्तों ने घेर लिया। मुझे उन्हें एक काक्टेल-पार्टी देनी पड़ी। सदैव से देता रहा हूं, पर इस बार मैंने निश्चय कर लिया था कि जल्द घर लौटूंगा, और दोस्तों के मना करने पर भी सबको छोड़-छाड़कर खिसक आया। बड़ी भद्दी बात थी। मैं मेजबान [illegible], मेरा बर्थडे था और मैं ही उन्हें छोड़कर भाग आया। निमन्त्रितों में [illegible]वल दोस्त ही न थे, मुझसे ऊंचे ओहदे के व्यक्ति भी थे। मुझे उनमे[illegible] [illegible]यित खराब होने का बहाना करना पड़ा। मन को बहुत बुरा लग रहा [illegible], पर रेखा का ख्याल था। इस बार घर पर भी मेहमानों की आव-[illegible]गत करना मैं चाहता था; पर घर जाकर देखा—सब सामग्री जैसी की [illegible]सी रखी है, घर पर मेहमान कोई नहीं है। अकेले राय थे लेकिन कुछ [illegible]रेशान-से, घबराए-से। और दूसरे दिन सुबह जब मुझे ज्ञान हुआ कि [illegible]खा ने इस बार किसीको निमन्त्रित ही नहीं किया था, तो मैं अपने को [illegible]ाबू न रख सका—बरस पड़ा। किन्तु भली-बुरी जो बात थी खत्म [illegible]ई; पर रेखा उसी दिन से बदल गई है। उसके सब रंग-ढंग कुछ के कुछ [illegible]ो गए हैं। मैंने ही मनाया है उसे। मगर अब वह एक निर्जीव गुड़िया-[illegible]ी हो गई है जिसमें चाबी भरने से उसके हाथ-पैर तो चलते हैं पर प्राण [illegible]उसमें नहीं हैं।

माया

शादी मैंने लवमैरिज की थी—अपने माता-पिता की स्वीकृति और रजामन्दी के विरुद्ध। पिताजी चाहते थे, किसी अच्छे-भले घर में मुझे घुसेड़कर अपनी जिम्मेदारी से मुक्त हो जाएं। भले घर से मतलब उनकी नजर में था जहां परिवार में मधुमक्खी के छत्ते के समान बेशुमार औरत-मर्द और बच्चे भरे हुए हों, खूब रुपया हो और शानदार मकान-कोठी हो, मोटर हो। जहां शहद भी टपकता हो और मक्खियां भी डंक मारती हों। एक हंस रहा हो, एक रो रहा हो; एक गुमसुम हो, एक चमकार रहा हो; एक मर रहा हो, एक जन्म ले रहा हो। इसे वे कहते थे भरा-पूरा परिवार। पर मुझे इस मधुमक्खी के छत्ते की एक मक्खी बनना स्वीकार न था। दुनिया मैंने देखी तो न थी, पर कुछ कुछ समझी थी। जब मैं एम० ए० में पढ़ रही थी, तभी मेरी एक सहेली का ब्याह ऐसे ही भरे-पूरे घर में हो गया था। वह बड़ी अच्छी लड़की थी, निहायत खुशमिजाज। विनोदी स्वभाव और बालसुलभ सरलता की मूर्ति थी—सुन्दर भी थी और प्रतिभा-सम्पन्न भी थी। बी० ए० में वह प्रथम और मैं द्वितीय आई थी। ब्याह के समय वह बहुत खुश थी। दूल्हा उसे पसन्द था। अभी हाल में विलायत से डाक्टरेट लेकर आया था। सांवला-सलौना, कटीला जवान था। हाजिरजवाब और सभ्य-शिष्ट, शीन-काफ से दुरुस्त। दूल्हा मुझे भी पसन्द आ गया था और मैंने ऐसा दूल्हा मिलने के लिए सखी को बधाई भी दी थी। पर ब्याह के छः महीने बाद जब वह ससुराल से लौटकर आई तो उसके रंग-ढंग सब बदले हुए थे। वह सुस्त, उदास और जीवन से उकताई हुई-सी, कुछ खोई हुई-सी हो रही थी। उसका वह उन्मुक्त हास्य, दिल खोलकर उत्साह से बातचीत का ढंग, सब गायब हो चुका था। मैंने कहा, "यह

क्या हुआ ? अभी जवानी तो चढ़ी ही नहीं, और बुढ़िया हो गई !"
उसने बहुत रोका अपने मन को, पर फूट पड़ी। उसने उस भरे-पूरे घर का बखान किया जो कलह, ईर्ष्या, द्वेष और अशान्ति का अड्डा बना हुआ था। जहां व्यक्ति की कोई मर्यादा न थी। जहां प्रत्येक स्वामी था, प्रत्येक असंतुष्ट था, प्रत्येक अहंग्रस्त था। उसने अपनी जिठानियों की करतूतें बताईं, जो उसके रूप को ईर्ष्या से और सभ्य-शिष्ट रहन-सहन को क्रोध से देखती थीं। उसके बनाव-सिंगार यहां तक कि साफ-सुथरे कपड़े पहनने तक को वे वेश्यावृत्ति कहती थीं। वे उसकी एकान्तप्रियता का मजाक उड़ातीं। उसे घमंडी और छोटे घर की कहकर तिरस्कार करती थीं। सास थीं, जिनके सामने सब बहुएं या तो पालतू बिल्लियां थीं, या कबूतरी। उन्हें सिर्फ दरबे में बैठकर गुटरगूं करने की स्वतन्त्रता थी। सास के सिर से पके बाल उखाड़ना और उनकी मुसाहिबगीरी करना उनका प्रधान कार्यक्रम था। नौकर-चाकर चोरी करते। बहुएं फूहड़ ढंग से चीजों की बर्बादी करतीं। बच्चे अव्वल दर्जे के जिद्दी। बच्चों को लेकर दिन में दस बार तू-तू मैं-मैं होती। पति घर में न रहते थे। दूर नौकरी पर थे। सास ने बहू को उनके साथ भेजने से इन्कार कर दिया था। बड़ी कठिनाई से वह पिता के साथ आ पाई थी। उसके ससुर ने सौ हुज्जतें की थीं—'आप क्यों ले जाते हैं ? आपने ब्याह कर दिया, छुट्टी हुई। सयानी लड़की अपने घर ही भली है।' तीर-तमंचे भी चला दिए ससुर ने—'दान-दहेज कम दिया था। कंगलों जैसा व्यवहार था।' और भी बहुत-सी बातें। बेचारी मेरी सखी का पिता बहुत अपमानित होकर किसी तरह पन्द्रह दिन के लिए बेटी को घर लाया था।

मेरा हृदय न जाने कैसी वितृष्णा से भर गया उसकी बातों को सुनकर। परन्तु दूसरी बार डेढ़ बरस बाद जब वह अपने छः मास के बालक को गोद में लेकर आई तब तो उसका रहा-सहा पानी भी उतर गया था। उसकी आंखों के चारों ओर स्याही फैल गई थी। आंखों में अब तेज तो था ही नहीं। जिसके एक हास्य में सौ बिजलियां तड़पती थीं, वह हास्य मर चुका था। चेहरा राख के समान हो गया था। उसे न अब अपने वस्त्रों को संभालने की रुचि थी, न किसी बात में चाव था,

जैसे वह इसी उम्र में जीवन से बेज़ार हो चुकी थी। उस बार तो वह अधिक बात भी नहीं करती थी, चुप रहती थी। बहुत पूछने पर फीकी हंसी हंसती थी और जब उसका मन बहुत व्याकुल होता था तो अपने ढ़ मास के बालक को दुलारकर दिल बहलाती थी। यही तो था ब्याह का मूल्य, जो उसे मिला—अपनी देह देकर अपमान, बन्धन और निराशा। मैं जितना सोचती उतना ही मेरा मन विद्रोह कर उठता। मैंने ठान लिया कि विवाह करूंगी ही नहीं। किसीको मैं अपना अनन्य प्यार भी दूं और दासी बनूं! भला क्या तुक है इसमें? अपने प्यार की कीमत मैं जान गई थी। कितने तरसते उसके एक कण के लिए लालायित हो मेरी भृकुटी की ओर देखते थे उन दिनों! मैं सबको समझती थी और दर्पित होती थी। कोरा प्यार ही नहीं, शरीर भी तो था मेरा, जिसका कोई मूल्य आंका ही नहीं जा सकता था। मैं न तो अपने प्यार को सस्ता बेचना चाहती थी, न इस अपार को किसी भी मूल्य पर देना चाहती थी। सो मेरा प्यार मेरे ही अंचल में एकत्रित होता गया, और उसके बोझ से मैं कराहने लगी। प्यार तो अब किसीको देना ही होगा—देने ही से उसकी सार्थकता होगी—इस बात पर मैं जितना ही विचार करती, व्याकुल होती जाती थी। नृत्य-संगीत का मुझे बचपन से शौक है। बचपन में मेरे इसी शौक के कारण मेरा नाम सबने रखा था 'राधा'। तब उस नाम का माहात्म्य मैं जानती नहीं थी। अब जाना तो अपना नाम चरितार्थ करने को मर मिटी। कैसे कहूं मैं अपने मन की पीर, और तभी मेरी नज़र के नीचे आए राम। जिन्दगी की एक सजीव मूर्ति, रस-भरा कलश। आंखों में क्या मद था कि क्या कहूं! उन बातों को आज बाईस वर्ष हो गए पर भूली नहीं हूं, भूल सकती भी नहीं हूं। और तभी मेरे मन में एक नई अनुभूति भी हुई। मैंने देखा, जैसे प्यार किसीको दे डालने को मैं मरी जा रही हूं—वैसे ही प्यार की एक भूख भी मुझे मारे डाल रही है। उसकी पीड़ा तो मैं बहुत दिन से अन्तरात्मा में अनुभव करती रही थी, परन्तु उसका कारण जान न पाई थी। वह ... जब अब राम ने अकस्मात् ही अपने प्यार से मुझे सराबोर कर ... लेन के हिसाब-किताब रखने का मुझे होश नहीं रहा। देन- ... बहुत, पर क्या दिया, क्या लिया—यह मैं नहीं जानती।

और जब होश आया तो मैं उनकी हो चुकी थी, अथवा वे मेरे हो चुके थे। फिर तो देन-लेन की होड़ मच गई। वे जितना देते उससे बहुत-बहुत गुना मैं देती। बदले में वे भी इतना देते थे कि क्या कहूं! उनका प्यार मुझे अपने रंग में सराबोर करता और मेरे प्यार में वे डुबकियां लगाते। उन दिनों विश्व के सब फूल खिल रहे थे, सब तारे जगमगा रहे थे, सारी दुनिया हंस रही थी, सब पर्वत हरे ही हरे थे, सब सरिताएं कलकल निनाद करती जा रही थीं। दुनिया का सौन्दर्य दुनिया में बिखरा पड़ रहा था और हम दोनों—मैं और राय—एकमात्र उसके दर्शक और साक्षी थे।

अकस्मात् ही कुछ अनहोनी-सी होती प्रतीत हुई। मैंने भयभीत होकर देखा—मैं भरी हाती जा रही हूं। फिर मैंने अनुभव किया, कोई मेरे पेट के भीतर लातें चला रहा है। मेरा मन उदास रहने लगा। आलस्य और अवसाद मेरे मन में भर गया। मुझे न खाना अच्छा लगता न नाच-रंग भाता था। मैं अब नाच नहीं सकती थी। मेरा पेट बढ़ रहा था। जिसमे कहनी वह मुंह फेरकर हंस देता। राय से कहा तो उन्होंने उसे शुभ समाचार बताया। मैं बर्बाद हो रही थी और दुनिया आनन्द मना रही थी। और फिर वह भयानक रात आई—जब हजार-हजार बर्छियां मेरी अकेली जान पर चलीं। यह प्यार का मूल्य था। परन्तु मैं मूर्छित हो गई। और जब होश में आई तो देखा—चन्द्रकिरण-सी एक सजीव गुड़िया मेरा स्तन चूम रही थी। वाह री प्रकृति! वाह री विडम्बना! वाह रे प्यार! वाह री औरत! वाह रे मर्द! तेरे ये रंग-ढंग! ये जादू के खेल!

और मेरी बच्ची बड़ी होने लगी। इसके बाद जब प्यार की जमा-पूंजी को मैंने संभाला तो कलेजा धक् हो गया। मेरा प्यार तो अब मेरे ही आंचल में पड़ा-पड़ा बासी हो रहा था और मुझे जो मिल रहा था वह प्यार न था—प्यार की तलछट थी, कड़वी और अप्रिय। अपने प्यार का मूल्य तो मैंने ब्याह से पहले ही जान लिया था। अब मैंने उसे यत्न से अपने कलेजे में छिपा लिया। राय को यदि उसकी भूख नहीं है तो क्या जरूरी है कि जबर्दस्ती उन्हें ही दिया जाए? परन्तु अब मेरी भूख मुझे बेचैन कर रही थी—वह बहुत भड़क उठी थी। मुझे ढेर-सा प्यार

हैं। शायद वे मम्मी से दुखी हैं।

एक दिन मैंने उनसे कहा था, "डैडी, आप मम्मी से बोलते क्यों नहीं हैं? उनके पास बैठते क्यों नहीं हैं? पहले तो ऐसा नहीं था। जब आपका आफिस से आने का वक्त होता था, तो मम्मी परेशान हो जाती थीं। स्वयं नाश्ता लगाती थीं। मुझसे तकाजा करके कपड़े बदलवाती थीं, आप भी नई साड़ी पहनती, बाल बनाती, और गुनगुनाती हुई बार-बार घड़ी की ओर देखती रहती थीं। हर मिनट पर कहती थीं—'तेरे डैडी ने आज इतनी देर कर दी। अभी तक नहीं आए।' पर अब तो ऐसा नहीं होता। सब कुछ नौकरों पर छोड़ दिया है उन्होंने। जैसे आपमें उनकी कोई दिलचस्पी ही नहीं रही है। आप आते हैं तो किसी बहाने से कहीं खिसक जाती हैं।"

हंसकर मेरी बात सुनकर डैडी ने मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए कहा, "तेरी बात ठीक है लीला। उनको अब मुझमें दिलचस्पी नहीं रही। मैं पुराना हो गया। लेकिन तू तो मेरा बहुत ख्याल रखती है, तू बड़ी अच्छी बेटी है।"

बस बात कहते-कहते उनकी हंसी गायब हो गई, और मैं देखती रह गई। मगर अब तो कुछ-कुछ मैं समझ रही हूं। इन वर्मा साहब की बात, डैडी उनका आना पसन्द नहीं करते। फिर उन्हें आने को मना क्यों नहीं कर देते? न करें वे, मैं मना कर दूंगी। हम तीन आदमी घर में हैं। मैं हूं, डैडी हैं, मम्मी हैं। बस, चौथे की क्या जरूरत है! नहीं, नहीं, बिलकुल जरूरत नहीं है, मैं आज डैडी से कहूंगी। सब बात कहूंगी।

कहा, "ममी, ये वर्मा साहब मुझे अच्छे नहीं लगते—इनसे कह दो यहां न आया करें" तो कहने लगीं, "तू कौन है, जो मुझपर हुक्म चलाती है! ये मेरे पास तो नहीं आते, मेरे पास आते हैं; हमेशा आएंगे। मैं उनके विरुद्ध एक शब्द नहीं सुनना चाहती।" मैं भी अड़ बैठी। मैंने कहा, "सुनना क्यों नहीं चाहतीं? मैं ही उनसे कह दूंगी कि न आया करें," तो हाथ छोड़ बैठीं। उनका मिज़ाज ही बिगड़ गया है। वे चाहती हैं कि मैं हॉस्टल में जा रहूं, और फिर घर में उन्हीं का राज हो जाए। क्यों रहूं भला मैं हॉस्टल में? उन्होंने डैडी को पट्टी पढ़ाई थी। डैडी राज़ी हो गए मुझे हॉस्टल में भेजने के लिए। मगर मैंने इन्कार कर दिया। मैं नहीं जाऊंगी—मैंने भी ठान ली।

डैडी अब बड़ी देर करके घर आते हैं, पता नहीं कहां रहते हैं। ममी से वे खिंचे-खिंचे रहते हैं। पहले की तरह दिल खोलकर हंसते-बोलते नहीं हैं। और कैसे बोलें? ममी का तो उन्हें देखते ही मूड खराब हो जाता है, तबियत खराब हो जाती है। डैडी रात को देर तक ड्रिंक करते रहते हैं और फिर सो जाते हैं। पहले तो ऐसा नहीं होता था।

घर में कितना सूनापन आ गया। मैं न मन की बात ममी से कह सकती हूं, न डैडी से। जब कहना चाहती हूं तो ऐसा लगता है जैसे कोई पत्थर छाती पर अड़ गया है। आखिर बात क्या है? किस बात पर लड़ाई है? वह कभी खत्म भी होगी? मुद्दत हुई, डैडी ने मुझे पिक्चर नहीं दिखाई। उस दिन मैंने कहा तो उदासी से बोले, "ममी के साथ चली जाना।" ममी भला मुझे साथ क्यों ले जाने लगीं? वे तो जाएंगी वर्मा साहब के साथ।

डैडी मुझे प्यार करते हैं। वे अच्छे आदमी हैं। बहुत अच्छे हैं। मन की बात मैं उनसे कह सकती हूं, मेरी किसी बात को वे नहीं टालते। वे सदा प्रसन्न रहते हैं। पर पहले जैसे देर-देर तक मेरे साथ हंसते थे, अब नहीं हंसते हैं। बस ज़रा-सा मुस्काकर रह जाते हैं। आफिस का काम बहुत बढ़ गया है; बहुत देर में आते हैं, पर फिर चले जाते हैं। पूछती हूं—'डैडी, अब आप मेरे साथ ताश नहीं खेलते, बातें नहीं करते।' —तो ज़रा-सा हंसकर कुछ बहाना कर देते हैं। बहाने की बातें मैं समझती हूं, अच्छी तरह समझती हूं। कुछ बात है उनके दिल में, जो छिपाने

उम्र मुझसे ज्यादा है। वह बाईस बरसों से राय की पत्नी है, जबकि मैं अभी तक कुंआरा हूं। वह चालीस से ऊपर की आयु को पहुंच चुकी है, और अभी मैं केवल छत्तीस का ही हूं। फिर भी मेरा मन उसे देखकर उसपर आकर्षित हो गया। और मैंने देखा, माया ने इसे जान लिया, और वह नाराज नहीं हुई, सदय हुई। राय को मेरे ऊपर सन्देह तक नहीं हुआ। और हम दोनों—मैं और माया—भी सम्भवतः अज्ञात ही एक-दूसरे की ओर आकर्षित होते चले गए। परन्तु प्रेम की भाषा मैं नहीं जानता, प्रेम के तत्त्व और प्रेम के फल को भी शायद नहीं जानता। आपको आश्चर्य हो सकता है—मेरी उम्र के आदमी को आजकल अधेड़ कहा जाता है। सो मेरा यह प्रेम सम्बन्धी अज्ञान सर्वथा हास्यास्पद है। परन्तु मैं एक दरिद्र परिवार का सदस्य हूं। जिसे लोग गदहपचीसी कहते हैं, वह उम्र तो मेरे जीवन-संघर्ष में पिस गई। पिता स्वर्गवासी हो गए। माता, दो भाई और दो कुमारी बहिनों का सिर पर बोझ लेकर मैं अपनी कच्ची आयु में ही बिना ही गृहस्थ बने गृहस्थ बन गया। मेरी सारी भावुकता पेट की चिन्ता में खर्च हो गई, और उभरता हुआ यौवन भोजन के बोझ से चकनाचूर हो गया। जीवन की रंगीनियों से मैं वंचित ही रहा। विलास और ऐश्वर्य तो दूर, जीवन में संतोष और तृप्ति के दर्शन भी नहीं हुए—केवल भूख ही को मैंने जाना-पहचाना और अपनी जवानी अर्पित कर दी।

बेशक मैं कहता हूं—मैंने अपनी भूख को अपनी जवानी अर्पित कर दी, और अब यद्यपि मैं केवल छत्तीस ही बरस का हूं, उस जवानी की उमंग मैं अपने भीतर नहीं देख रहा। आज भी तो मैं भूख से लड़ रहा हूं। बहिनों की शादी हो गई। एकमात्र पैतृक मकान रहन हो गया। एक भाई अभी पढ़ रहा है, दूसरे को नौकरी मिली है, पर अभी वह किसीको सहायता देने के योग्य नहीं है। जितना कमाता हूं, सब खर्च हो जाता है। और भूख वैसी ही कायम है।

आखिर यह भूख क्या बला है! इसपर मैंने बहुत बार विचार किया है। तन की भूख पर भी और मन की भूख पर भी। कम्युनिस्ट लोग कहते हैं, दुनिया के सब लड़ाई-झगड़े तन की भूख के कारण हैं।

वर्मा

मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है, जैसे मैं किसी चट्टान से टकरा गया हूं। माया औरत है मगर चट्टान की तरह सख्त और अविचल। मैं मर्द हूं, मगर छुई-मुई के पेड़ की भांति संकोच और झिझक से भरा हुआ। राय मेरे अफसर हैं, और मैं उन्हींके आफिस का एक कर्मचारी हूं। अब यदि मैं खुल्लमखुल्ला माया से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता हूं, तो सम्भवतः मेरी नौकरी नहीं रहेगी। राय मुझे कभी नहीं बख्शेंगे। यों वे एक खुश-अख़लाक़ अफसर हैं। पर कोई कितना ही खुश-अख़लाक़ हो, अपनी पत्नी के जार को सहन नहीं कर सकता। मैं जानता हूं, राय का चरित्र दृढ़ नहीं है। अनेक लड़कियों से उनके सम्पर्क हैं। उनके संबंध में मैं बहुत-सी कहानियां सुन चुका हूं। आफिस के चपरासी से हैड तक उनकी रंगीन कहानियां कहते-सुनते हैं पर उनसे किसीको कोई शिकायत नहीं, सब उनसे खुश हैं। वे जैसे खुश-अख़लाक़ हैं वैसे ही उदार भी हैं। कितनी बार वे अपने मातहत लोगों का पक्ष लेकर ऊपर के अफसरों से भिड़ गए हैं। बेशक वे सीधे-सादे आदमी नहीं हैं। पर सीधा होना कोई अच्छी बात थोड़े ही है! बेचारी गायें, जिनके सिरों पर लम्बे और पैने सींग होते हैं, केवल अपनी सिधाई के कारण ही कसाई की छुरी का शिकार बनती हैं। उनपर वे सींगों का प्रहार नहीं करतीं। राय न स्वयं सीधेपन को पसन्द करते हैं न किसीकी सिधाई की तारीफ करते हैं।

माया से मेरी मुलाकात छः महीने से है। राय की मुझपर खास कृपा रहती है। उन्होंने मुझे कठिनाइयों से उबारा है। मैं तो यहां तक कह सकता हूं कि वे मुझसे प्रेम भी करते हैं। इसीसे उनके घर मेरा आना-जाना आरम्भ हुआ। माया से परिचय हुआ। मैं नहीं जानता क्यों। पहली ही नजर में मैंने माया को पसन्द कर लिया। उसकी

मैंने विज्ञान की शिक्षा पाई है। मैं जानता हूं कि हमारे शरीर का निर्माण करने की शक्ति हमारे रक्त-सेलों में है। जैसी छोटी-छोटी ईंटों से मकान बनाए जाते हैं, उसी प्रकार सेलों से शरीर बना है। और रक्त-प्रवाह के साथ जीवन-शक्ति सारे शरीर को मिलती है। परन्तु यह प्रवाह काम-वासना पर निर्भर है। काम-वासना हमारे शरीर में एक आग जलाती है, उससे तपे हुए गुलाबी गालों को देखकर हमें प्रसन्नता और उत्तेजना होती है; क्योंकि इससे रक्त की उत्तमता का सम्बंध है। जितना ही हमारा रक्त उत्तेजित होगा, उतना ही हमारा स्वास्थ्य उत्तम होगा; और रक्त की उत्तेजना का उत्तम प्रकार कामोत्तेजना ही है।

मानवीय विकास का इतिहास काम-विकास से प्रारम्भ होता है। बच्चे काम-वासना के विकास से रहित होते हैं। यह उनका सौभाग्य ही है। उनके कोमल नन्हे शरीर और सुकोमल हृदय भला काम के प्रचंड वेग को कैसे सह सकते थे!

प्राणी-शास्त्र विशारदों ने कहा है कि प्रेम का उदय विचार से होता है। परन्तु प्रेम पर संयम रखने की आवश्यकता पर भी उन्होंने विचार किया है। शरीर एक महत्त्वपूर्ण यंत्र है, उससे उतना ही काम लिया जाना ठीक है जितने की शक्ति उसमें है। प्रेमोत्तेजना में यदि शरीर की शक्ति से बाहर काम किया जाएगा तो निश्चय ही उसका परिणाम अनिष्टकारक होगा। जब प्रेम के साथ कामोदय होता है तो रक्त में और नाड़ियों में एक तीव्र उत्तेजना का अनुभव होता है और आनन्द की अनुभूति में प्रेम मिलकर एक मानसिक काम बन जाता है जो अत्यन्त आह्लादजनक होता है। वह जब युवा पुरुष में, जो स्वस्थ भी है, पूर्ण आवेग में होता है तो प्रेम के पर उग आते हैं और उसे जीवन में कहीं का कहीं ले उड़ते हैं।

ऐसा ही मैंने अपने जीवन में देखा। मैंने कहा आपसे कि मैं पूर्ण स्वस्थ युवा था। और जब-जब मेरे अंग में कामोत्तेजना होती थी, मेरे श्वास तथा रक्त के प्रवाह में अन्तर पड़ जाता था, यह मैं अनुभव करता था। भोर के तड़के जब मैं उठता था तो ऐसा प्रतीत होता था कि शरीर के साथ सारी ही इन्द्रियां जाग उठी हैं। मैं देखता था कि तनिक सोचने से

[illegible] मन में [illegible] उत्पन्न हुई। [illegible] मन कुविचारों [illegible] प्रभावित करने लगा है। लेकिन [illegible] है — [illegible] काम नहीं है, मन की भूख है — मन की भूख, [illegible] मानसिक [illegible] और [illegible] है। [illegible] चाहिए।

मन की इस भूख ने मुझे बहुत सताया। [illegible] अनुभव करता रहा हूँ। मेरी [illegible] है, [illegible] — [illegible] की भूख के लिए [illegible] किये हैं। [illegible] की [illegible] है। [illegible] की भूख मिटी नहीं, कभी नहीं [illegible] भी बढ़ती है।

[illegible] के साथ [illegible] का गहरा संबंध है। मैं जानता हूँ, काम-वासना शुद्ध [illegible] है, मानसिक नहीं। इसलिए मानव इस संबंध से परिचित [illegible] नहीं हो सकता। यदि मानव या ब्रह्मचर्य का यह परिचय समझ जाए कि स्त्री-सहवास तथा काम-पूर्ति के प्राकृतिक तरीके और सर्व-काम-संबंधी विचार-भावनाएँ सब बन्द रोकना ही संयम या ब्रह्मचर्य है, तो वह केवल अपूर्ण संयम लोगों के ही लिए सम्भव है। मैंने इसकी उलटी हुई वासु क्यों-किसेन ही प्रयोग की है। मैंने इस दुर्दम काम पर विजय पाने के बड़े-बड़े प्रयत्न किए। व्यायाम से शरीर को थका डाला, थकावट से वहाँ थोड़ी वासना कम हो जाती थी वहाँ शारीरिक और मानसिक शक्ति कम होती थी। पर, व्यायाम से ज्योंही शरीर सबल हुआ, काम-वासना प्रबल हो गई। ओह, इस प्रचंड काम-वासना को दबाने में मैंने अपने जीवन के कितने सुनहरी दिन बर्बाद किए, कितने आनन्द के क्षणों को निरानन्द बनाया! उसकी याद बड़ी कटु! बड़ा आज विश्वास करेंगे कि उन दिनों स्त्री को प्राप्ति न होने से मैं अर्ध-विक्षिप्त हो गया था।

एक बात मैंने और देखी, उत्तम पाचन-शक्ति का काम-वेग पर भारी प्रभाव पड़ता है। सदैव से मेरी पाचन-शक्ति तीव्र रही है। इसने मेरे शरीर में प्रबल काम-शक्ति का उदय होता रहा। कहना चाहिए— ज्वार-भाटा आता रहा। मैं अनुभव करता था कि मेरा शरीर तप रहा है, पर कामाग्नि के इस ताप को थर्मामीटर पर नहीं नापा जा सकता था।

स्वास्थ्य और प्रतिष्ठा के लिए खतरे की चीज थी। तब इस काम-शत्रु का दमन करने का क्या मार्ग हो सकता था ? इस निर्दय शत्रु का इलाज स्त्री थी, जो मुझे प्राप्त न थी। कभी-कभी प्रकृति सहायता करती थी, पर वह यथेष्ट न थी। इस दुर्दम्य काम-पीड़ा को शान्त करने के लिए एक आदर्श साथी की आवश्यकता थी, जो इस आनन्द के आदान-प्रदान में बराबरी की प्रतिस्पर्धा करे और जिसे मैं अपने-आपको सौंप दूं, जो न केवल आनन्द की अपितु सौभाग्य की भी बात थी।

परन्तु मुझे ऐसा साथी नहीं मिला। और मेरे जीवन की दुपहरी इस कठिन काम-संग्राम में लड़ते-लड़ते ही कटी। मेरी इस जीवन की कठिनाई और दयनीयता का कोई कहां तक अनुमान लगा सकता है भला !

मैंने ब्रह्मचर्य और संयम की चर्चा की है। दोनों का ही मैंने सहारा लिया पर लाभ कुछ न हुआ। यह कहना कि ब्रह्मचर्य से किसी हालत में कोई हानि नहीं है, सरासर अवैज्ञानिक है। मैंने तो देखा कि ब्रह्मचर्य के पालन में बेहद शारीरिक शक्ति खर्च हुई और उससे तारुण्य के उल्लास का वेग ही रुक गया, और मैं सदा के लिए म्लान और निस्तेज हो गया।

यह एक बड़ा ही पेचीदा सवाल है, जो मेरे जैसे लाखों-करोड़ों तरुणों के सामने आता है कि अविवाहित व्यक्ति को कामेच्छा होने पर उसकी पूर्ति किस प्रकार करनी चाहिए ! यह सवाल आरोग्य-विधान की दृष्टि से मैं कर रहा हूं। क्या वह स्वसंभोग करे जो हानिकारक है, या वेश्यागमन करे जो खतरनाक है, या परस्त्रीगमन करे जो अनीति है ? वह यदि समाज-बंधन और नीति-बंधन में बंधने की परवाह नहीं करता तब तो कोई दिक्कत ही नहीं है। मैंने इस सम्बन्ध में चिकित्सकों से राय ली और उन्होंने स्पष्ट कहा कि वह किसी भी स्त्री से सहवास करे। मैंने जब नीति की बात कही, तो उन्होंने कहा—चिकित्सक नीति का रक्षक नहीं है, स्वास्थ्य का रक्षक है। मैंने चाहा कि वे कोई ऐसी शामक औषध दें कि जिससे मेरी भड़की हुई वासना शमित हो जाए—परन्तु उन्होंने निश्चित रूप से मुझे सचेत कर दिया कि यदि मैं ऐसी कोई औषध लेने की मूर्खता करूंगा तो न केवल काम-वासना, प्रत्युत शरीर

मस्तिष्क में रक्ताभिसरण भर जाता था। रक्ताभिसरण जीवन में कितना बहुमूल्य है, इसे सब लोग नहीं जानते। और भी एक बात है जिसे सब लोग नहीं जानते। जितनी अधिक मस्तिष्क की बड़ी शक्ति होगी, उतनी ही उत्तेजना अधिक होगी। इसलिए कामोत्तेजना जीवन के सब कामों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह जितनी ही अधिक होगी, उतना ही मस्तिष्क विकसित होगा। मनुष्य अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए, जो न केवल उसके व्यक्तित्व में सीमित है अपितु ब्रह्माण्ड-भर में विस्तृत है, मस्तिष्क से बहुत काम लेता है। इसीसे मनुष्य का मस्तिष्क संसार के सब प्राणियों से बड़ा होता है। परन्तु यह एक गंभीर तथ्य है कि मस्तिष्क को आराम की ज़रूरत है, पेशियों को परिश्रम की। कामोत्तेजना, जो पुरुषत्व की प्रतीक शक्ति है, जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और आनंदवर्धक वस्तु है।

आप चाहे जो भी समझें, पर मैं जब अपने जीवन के सबसे नाजुक और महत्त्वपूर्ण लक्ष्यबिंदु पर आ पहुंचा हूं तो मन की सब गुप्त-प्रकट बात प्रकट करूंगा। एक ही शब्द में मैं कहना चाहता हूं कि जब मैं अपरिसीम काम-वासना को शरीर में भड़का देखता था तो ऐसा अनुभव करता था कि जैसे संसार की बहुमूल्य मणिएं मैंने प्राप्त कर ली हैं।

कोई कमज़ोर दिलवाला व्यक्ति उस वेग के धक्के को सह नहीं सकता था। मैं उसका निवारण नहीं कर सकता था। इतना ज्ञान मुझमें था कि मैं अस्वाभाविक आवेश से बचता गया। मुझे अपनी कामवासना से प्रबल युद्ध करना पड़ा। मैं अपना ध्यान दूसरे कामों में बंटाता और रात-दिन काम में व्यस्त रहता, परन्तु काम-वासना उतने ही वेग से मेरे सम्मुख आ खड़ी होती।

शारीरिक आवश्यकताएं अनिवार्य हैं। यह वह संघर्ष है जिसमें बार-बार हमें पड़ना है। दिन-भर के काम से थकनाचूर शरीर लेकर जब रात को शय्या पर आता तो, यद्यपि वह आराम का समय होता था, परन्तु मुझे उस एकान्त रात्रि में अपनी सारी शक्ति काम-वेग से युद्ध करने में जुटानी पड़ती थी; यद्यपि यह युद्ध मुझे चुपचाप करना पड़ता था और कभी-कभी विषम कठिनाई का सामना भी होता था। कोई भी अस्वाभाविक चेष्टा नितान्त मूर्खतापूर्ण थी। और वेश्यागमन

स्वास्थ्य और प्रतिष्ठा के लिए खतरे की चीज थी। तब इस काम-शत्रु को दमन करने का क्या मार्ग हो सकता था? इस निर्दय शत्रु का इलाज स्त्री थी, जो मुझे प्राप्त न थी। कभी-कभी प्रकृति सहायता करती थी, पर वह यथेष्ट न थी। इस दुर्दम्य काम-पीड़ा को शान्त करने के लिए एक आदर्श साथी की आवश्यकता थी, जो इस आनन्द के आदान-प्रदान में बराबरी की प्रतिस्पर्धा करे और जिसे मैं अपने-आपको सौंप दूं, जो न केवल आनन्द की वरन् सौभाग्य की भी बात थी।

परन्तु मुझे ऐसा साथी नहीं मिला। और मेरे जीवन की दुपहरी इस कठिन काम-संग्राम में लड़ते-भिड़ते ही कटी। मेरी इस जीवन की कठिनाई और दयनीयता का कोई कहां तक अनुमान लगा सकता है भला!

मैंने ब्रह्मचर्य और संयम की चर्चा की है। दोनों का ही मैंने सहारा लिया पर लाभ कुछ न हुआ। यह कहना कि ब्रह्मचर्य से किसी हालत में कोई हानि नहीं है, सरासर अवैज्ञानिक है। मैंने तो देखा कि ब्रह्मचर्य के पालन में बेहद शारीरिक शक्ति खर्च हुई और उससे तारुण्य के उल्लास का वेग ही रुक गया, और मैं सदा के लिए म्लान और निस्तेज हो गया।

यह एक बड़ा ही पेचीदा सवाल है, जो मेरे जैसे लाखों-करोड़ों तरुणों के सामने आता है कि अविवाहित व्यक्ति को कामेच्छा होने पर उसकी पूर्ति किस प्रकार करनी चाहिए! यह सवाल आरोग्य-विधान की दृष्टि से मैं कर रहा हूं। क्या वह स्वसंभोग करे जो हानिकारक है, या वेश्यागमन करे जो खतरनाक है, या परस्त्रीगमन करे जो अनीति है? वह यदि समाज-बंधन और नीति-बंधन में बंधने की परवाह नहीं करता तब तो कोई दिक्कत ही नहीं है। मैंने इस सम्बन्ध में चिकित्सकों से राय ली और उन्होंने स्पष्ट कहा कि वह किसी भी स्त्री से सहवास करे। मैंने जब नीति की बात कही, तो उन्होंने कहा—चिकित्सक नीति का रक्षक नहीं है, स्वास्थ्य का रक्षक है। मैंने चाहा कि वे कोई ऐसी शामक औषध दें कि जिससे मेरी भड़की हुई वासना शमित हो जाए—परन्तु उन्होंने निश्चित रूप से मुझे सचेत कर दिया कि यदि मैं ऐसी कोई औषध लेने की मूर्खता करूंगा तो न केवल काम-वासना, प्रत्युत शरीर

की मानसिक क्रियाएं भी मन्द पड़ जाएंगी और शीघ्रातिशीघ्र वृद्धावस्था मुझे घर दबाएगी। यह शरीर के लिए एक जोखिम की बात है, और इन चीजों को लगातार लेने से शरीर की और मन की स्फूर्ति नष्ट हो जाती है। निस्सन्देह कुछ परिस्थितियां हैं जबकि मास-दो मास महीने के लिए अथवा जन्म-भर तक के लिए ब्रह्मचर्य रखना लाभदायक हो सकता है, पर वह खास-खास हालतों में, खास-खास रोगियों के लिए, न कि पूर्ण स्वस्थ और बलवान लोगों के लिए आम नियम बन जाना चाहिए। और इसके निर्णय का अधिकार नीति के उपदेशक एवं धर्मगुरुओं को नहीं है, प्रत्युत चिकित्सकों को है। स्वर्ग-प्राप्ति, मुक्ति के लिए या धर्म-लाभ के लिए ब्रह्मचर्य की आवश्यकता नहीं है, ब्रह्मचर्य की आवश्यकता स्वास्थ्य-लाभ के लिए है। भूख और काम-वासना दोनों का शरीर पर समान अधिकार है। कुछ लोग कुछ समय तक उपवास कर सकते हैं। इससे यह कहना कि मनुष्य के लिए भोजन की आवश्यकता ही नहीं है, मूर्खता है। सहवास में शक्ति खर्च होती है यह ठीक है, पर काम-धन्धा करने में, चलने-फिरने और परिश्रम करने—सभी में तो शक्ति खर्च होती है। पर उसकी पूर्ति शरीर स्वाभाविक रीति से कर लेता है। वीर्य का शरीर में एकत्रित करना सम्भव नहीं है, वह खारिज होता है। तभी उसके बनने की क्रिया ठीक-ठीक होती रहती है। बेशक काम-वासना की शक्ति का कुछ अंश दूसरे कामों में भी खर्च किया जा सकता है, पर वह पूरे तौर पर दूसरे काम में नहीं लाई जा सकती है। न काम-वासना संतानोत्पत्ति के लिए है—वह तो एक विशेष सुख और जीवन की स्फूर्ति के लिए है।

चिकित्सकों के इस निर्णय ने मेरे मन को झकझोर डाला और मैं एक जीवन-साथी की प्राप्ति के लिए छटपटाने लगा। पर साथी को कैसे प्राप्त करूं, यही मेरे लिए समस्या बन गई। मैंने फ्रायड के मनो-विज्ञान का मनन किया। उनका अचेतन-सिद्धान्त बड़ा अद्भुत है। उनका कथन है कि मन के सब व्यापार हमें मालूम नहीं होते, और मन का एक निर्ज्ञान-प्रदेश होता है। यही निर्ज्ञान-प्रदेश हमारी कामनाओं की समष्टि है। निरुद्ध होने पर भी हमारी कामनाएं मन से सर्वथा दूर नहीं होतीं, प्रत्युत मन में आत्म-प्रकाश करने की चेष्टा करती हैं।

जीवन में जो छोटी-छोटी भूलें होती हैं—उनके मूल में भी यही निरुद्ध कामना काम करती है। हमारे मन में ऐसी अनेक कामनाएं होती हैं जो सामाजिक बन्धन तथा अनुशासन के कारण प्रकाश में नहीं आ पातीं। जब हमारी बुद्धि जागरित होती है तब हम उन्हें बलपूर्वक टालते जाते हैं; पर स्वप्नावस्था में जब बुद्धि अकर्मण्य बन जाती है, तो हमारी वे निरुद्ध कामनाएं स्वप्न में नाना प्रकार के रूप धारण करके आत्म-प्रकाशन करती हैं।

इन निरुद्ध कामनाओं में अनेक ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध काम-वासना से है। मनुष्य को सामाजिक बन्धनों के कारण उन्हें निरुद्ध करना पड़ता है और वे रुद्ध कामनाएं अनेक उपायों से तृप्ति-लाभ करने की चेष्टा करती हैं, जिनके रूपान्तर नाना मानसिक रोग हैं।

मेरे मस्तिष्क में जब ये जटिल काम-समस्याएं उलझ रही थीं और मैं निश्चय ही मानस रोग की ओर धकेला जा रहा था, तभी माया मेरे सम्पर्क में आई। परन्तु मैंने माया को नहीं—माया ने मुझे अपनी ओर खींचा। मैं वृद्ध पुरुष हूं, उसकी आयु मुझसे अधिक है। उसकी सामाजिक स्थिति भी मुझसे ऊपर है। मेरे मन की शंकाएं, झिझक, निरोध बहुत थे। पर प्रकृत भूख भी एक स्त्री के लिए अत्यन्त भयानक रूप से मुझे पीड़ित कर रही थी। इस कारण माया की प्राप्ति मेरे जीवन की एक पूर्ति हो गई। मैंने अपने को माया के अर्पण कर दिया है—तन से भी और मन से भी। और अब मैं उसका बड़े से बड़ा मूल्य चुकाने पर आमादा हूं। अब तो मेरा मुर्झाया हुआ यौवन फिर से हरा-भरा हो गया है।

माया ने मुझसे विवाह का प्रस्ताव किया है। उस सम्बन्ध की सब प्रतिकूल-अनुकूल बातों पर हमने विचार कर लिया है और मैंने सब कुछ उसी पर छोड़ दिया है। वह एक हौसलेमन्द औरत है। और मैं आशा करता हूं कि उसे पत्नी के रूप में प्राप्त कर मैं अपने अब तक के अपूर्ण जीवन की पूर्णता को प्राप्त कर सकूंगा।

बरसात, तूफान बरबादी की लगती है, वह यह क्या करे ? उसकी मर्जी को वह प्यार करती थी—शायद अब भी करती है। आज तीन दिन हो गए, जब से माया गई है, वह बराबर रो रही है। खाना उसने नहीं खाया है। एक शब्द भी उसने अपनी जबान से नहीं कहा है। चुपचाप रो रही है, बस रो रही है। जैसे वह एक दुखियारी हुई बच्ची हो और उसे अकेली छोड़कर उसकी माँ चली गई हो। मुझे भी वह प्यार करती है। इसीसे वह मुझे देखते ही फूट पड़ती है। शायद वह समझती है कि उसीकी वजह से माया चली गई है।

अब उसने एक हफ्ते बाद मुझसे कहा—मेरी गैरहाजिरी में बर्मा का आना और घंटों घर में एकान्त में रहना, माया का उसके साथ घर से बाहर सिनेमा के बहाने जाना और देर रात बीते शराब के नशे में धुत लौटना, बेबी के रोक-टोक करने पर डांटना-डपटना, हाथ तक उठा बैठना—तो मैं चुप न रह सका। कुछ तो सब बातें सुनकर मैं अपने दिमाग का संतुलन खो बैठा, और कुछ यह भी ख्याल किया कि चुपचाप बर्दाश्त कर लूं तो बेबी क्या कहेगी। मैं माया से उलझ बैठा। कुछ यह बात नहीं कि मैं सब मामला जानता नहीं। कई महीने पहले ही मैं बर्मा और उसके अवैध सम्बन्ध को जान भांप गया था, पर मुझे उस हालत में क्या करना चाहिए था, यही तय न कर पाया था। बहुत बार मैंने माया को समझाना भी चाहा। पर मैं उसे नसीहत कैसे दे सकता था, जब कि वह जानती है कि मैं खुद उसके प्रति वफादार नहीं हूं! सिर्फ एक रेखा ही की तो बात नहीं, और भी स्त्रियों से मेरे सम्बन्ध हैं। इस बात को छिपाने से क्या लाभ है? आखिर माया से तो कुछ छिपा नहीं है। रेखा की बात भी वह जान गई है। रेखा एक वफादार औरत थी। परन्तु उसके ब्याह को तो अभी पांच ही बरस हुए थे। पांच बरस की वफादारी भला बाईस बरस की वफादारी का क्या मुकाबला कर सकती है!

मैंने आपसे क्या अभी नहीं कहा था कि माया मेरे प्रति बाईस बरस वफादार रही। और वफादार ही क्यों? कहना चाहिए एक सच्ची जीवन-संगिनी। जिसमें प्रथम श्रेणी की समझदारी, विश्वासपात्रता, आत्मत्याग, साहस, हिम्मत और निष्ठा थी। इन सब बहुमूल्य सद्गुणों

मैंने देखा—उनका चेहरा राख के समान मैला और धुंधला हो रहा है। वे एक मामूली साड़ी पहने थीं। और अपने सब जेवर, हाथ की चूड़ियां उतार दी थीं।...मैं ममी से लिपट गई। बहुत कहा—'ममी, मेरे कुसूर को माफ कर दीजिए, मैं डैडी से अब कोई बात नहीं कहूंगी।'—लेकिन उन्होंने कुछ जवाब नहीं दिया। एक बार मेरे सिर पर प्यार से हाथ फेरकर, मुझे सीने से लगाकर वे चली गईं। वे चली गईं डैडी!"

इतना कहकर बेबी फिर दोनों हाथों से मुंह ढापकर रोने लगी। मैंने अपने मन में कहा—तब तो वह मां का दिल साथ ले गई है। एक हलकी-सी आशा की झलक मुझे दिखाई दी। मैंने सोचा—मेरे लिए न सही, बेबी के लिए वह लौट आएगी।

लेकिन तीन दिन बीत गए, वह नहीं आई। बेबी तीन दिन से रोती रही है। उसने कुछ भी नहीं खाया है। मेरा ख्याल था वह वर्मा के घर गई होगी, पर पीछे पता लगा कि वह अपनी एक सहेली के घर पर है। मैंने एक पुर्जा लिखा, केवल दो शब्द—'माया, बेबी पर इस कदर बेरहमी न करो। जब से तुम गई हो, वह न खाती है न पीती है, रो रही है।'

पुर्जा पढ़कर माया आई। सीधी बेबी के कमरे में गई। बेबी को गोद में लिया, बहलाया, उसे खिलाया-पिलाया। मैंने सब कुछ जाना-सुना। तबियत को तसल्ली दी—आखिर वह आ गई। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे मैं फिर से जी उठा। वह दिन-भर बेबी के पास रही। मुझे आशा थी कि रात को वह मेरे पास आएगी और तब किस तरह सुलह की जाएगी—मैं मन ही मन इन बातों पर विचार करने लगा। पर वह शाम को मुझसे बिना ही मिले चली गई। बेबी ने कहा—वह सुबह फिर आएगी। सुबह आई और दिन-भर बेबी के साथ रही। बेबी बहुत खुश थी। मैं भी खुश था, शाम को मैंने आफिस से लौटकर उसके साथ चाय पी। इसके बाद उसने मुझसे बात की।

बात छेड़ते ही मैंने सुलह के मूड में कहा :

"मुझे बहुत अफसोस है माया, उस दिन मैं गधा बन गया, मैंने तुमसे बहुत सख्त कलामी की। मुझे तुम माफ कर दो।"

उसने कहा, "यानी तुम उन बातों को वापस लेने को तैयार हो?"

"हटाओ, हटाओ। मैं नाराज़ नहीं हूँ, मुझे अफसोस है।"

"अफसोस हो सकता है तुम्हें, क्योंकि तुम तब कोमल, भावुक हृदय के आदमी हो, पर तुम उन बातों को याद करने से डरते हो ?"

'क्यों नहीं ले सकता, बिल्कुल वाहियात थीं वे बातें !'

"वाहियात तो थीं, मगर सच भी तो थीं ?"

मैंने घबराकर माला के मुँह की ओर देखा। वह शान्त और गम्भीर थी। उसने कहा

"इज्जत तो तुम्हारी भी है। और मैं जानती हूँ, तुम उसके लिए बड़ी से बड़ी कुर्बानी कर सकते हो।"

"लेकिन तुम्हारा मतलब क्या है ?"

"यही कि तुम्हारी ही भाँति मैं भी अपनी इज्जत का बहुत ध्यान रखती हूँ। तुम मुझे और मैं तुम्हें अच्छी तरह जानती हूँ। हमने अपनी पूरी जवानी मिल-जुलकर एकसाथ एक होकर काटी है। अब न मैं तुम्हें और न तुम मुझे धोखा दे सकते हो। यह ठीक भी न होगा।"

"तो तुम…"

"हाँ, मैं यह कह रही हूँ कि अब हम पति-पत्नी की भाँति एकसाथ नहीं रह सकते। हमें अलग होना होगा।"

"लेकिन माला, हम पति-पत्नी की भाँति रह सकते हैं। तुम जानती हो, मैं तुम्हें कितना प्यार करता हूँ।"

"प्यार की बात तो मैं भी कुछ कह सकती हूँ, पर उसका अब यह मौका नहीं है। फिर यदि प्यार का कुछ उपयोग ही मान करना है तो इस तरह करें कि हमारी मित्रता अटूट बनी रहे। एक-दूसरे को याद करके हम दिल में एक टीस का अनुभव करते रहें।"

"लेकिन हम पति-पत्नी की भाँति क्यों नहीं रह सकते ?"

"उस दिन तुमने गुस्सा किया तो मैं तुम्हारे लिए कितनी दुःखी हुई। काश कि हमारे-तुम्हारे बीच कोई न आता! पर अब तो जैसे मैं तुम्हें जानती हूँ, तुम मुझे जानते हो। हम दोनों ही अब एक दूसरे के वफादार नहीं रहे। मुझे संतोष सिर्फ इतना ही है कि बेवफाई की पहल तुमने की। बहुत दिन से मैं जानती थी कि तुम्हारे सम्बन्ध अनेक लड़कियों से रहते रहे हैं। मैंने मन को बहुत समझाया कि आखिर तुम

मर्द हो, मैं औरत हूं। मर्द ऐसा प्रायः करते ही हैं। पर प्रन्त
आत्म-सम्मान और निष्ठा जाग उठी, और मैंने तुमसे मांग की
मेरे प्रति वफादार होकर रहना होगा। पर तुमने उसे हंसी
दिया। तुम्हारा ख्याल था कि पत्नी यदि पति से वफादारी की म
तो यह बहुत हलकी-सी, बल्कि सब प्रकार से हास्यास्पद-सी ब
पर मैं ऐसा नहीं मानती। मैं तो चाहती हूं कि जैसे पत्नी पति
वफादार है, वैसे ही पति भी पत्नी के प्रति वफादार हो।"

"लेकिन माया, मैंने तुम्हें प्यार करने में कोई कमी नहीं की

"तुम शायद उस युग की बातें सोचते हो, जब एक पति क
स्त्रियां होती थीं। वे सब उसके प्रति वफादार ही नहीं होती थीं
भक्ता भी होती थी। उनके लिए पतिव्रत-धर्म को बड़ी-बड़ी क
बनाई गईं। पतिव्रत-धर्म के बड़े-बड़े माहात्म्य गढ़े गए। बड़े-बड़े
चार्यों ने, समाज के निर्माताओं ने पतिव्रत के एक से एक बढ़क
नियम बनाए, जिनमें एक पति के मर जाने पर उसकी अनेक स्त्रि
जिन्दा उसकी चिताओं पर फूंक दिया गया; और उन्हें सती
लोकोत्तर पतिव्रता की डिग्री दी गई।.......

"यह पतिव्रत-धर्म केवल स्त्रियों ही के लिए था, मर्दों के
नहीं। मर्दों के लिए चाहे जितनी पत्नियां ब्याहने, बिना ब्याह
चाहे जितनी दासियों, लौंडियों, रखेलियों से सहवास करने क
थी। तिसपर भी उसके लिए वेश्याओं के बाजार थे, जहां खुले-
भोग-विलास का सौदा होता था।...

"तब औरत मर्द की दासी थी, मर्द उसका स्वामी था— इ
में भी, परलोक में भी। समाज मर्दों का था, धन-सम्पत्ति, घर-
वही स्वामी था, वह ज्ञानवान था, सामर्थ्यवान था। उसके लि
दुनिया थी। स्त्री तब उसके लिए उसके भोग की एक सामग्री थी
समय स्त्रियां यह बर्दाश्त करती थीं कि उनका पति दूसरी स्त्रि
सहवास करे और वे उससे ईर्ष्या न करें। ऐसे शास्त्र-वचन भी मैं
हैं, जहां सौतों से ईर्ष्या न करना भी पतिव्रत-धर्म का एक अ
गया है। जहां कोढ़ी पति को कंधों पर लादकर वेश्या के यहां ले
उसके सहवास की सुविधा करना पतिव्रता का धर्म माना गया

तुम क्या मुझसे भी आज वही आशा करते हो? कोई भी पुरुष आज की स्त्री से यह आशा कर सकता है?"

"किन्तु माया, सुनो तो···"

"ठहरो जरा, पहले मुझे ही अपनी बात कह लेने दो। एक और युग था—सामन्ती युग, जब पति पत्नी के माता-पिता-परिजनों को मौत के घाट उतारकर हरण करते थे और उन्हें उन पतियों की एकनिष्ठ पत्नी रहना पड़ता था। कैसे वे रहती थीं, उन्हें प्रेम करती थीं, हम आजकल की स्त्रियां इन बातों की कल्पना भी नहीं कर सकतीं। अब तो पत्नी पति की सहचारिणी है, उसकी जीवन-साथी है। सुख-दुःख में, हानि-लाभ में वे दोनों बराबर के भागीदार हैं। अब वे यह नहीं देख सकतीं कि पति तो दूसरी स्त्रियों से सहवास करता रहे, और पत्नी उसके प्रति एकनिष्ठ रहे। यदि पति चाहता है कि उसकी पत्नी उसके लिए एकनिष्ठ रहे, वफादार रहे, तो उसे भी उसके प्रति वफादार एकनिष्ठ रहना होगा, अवश्य रहना होगा। स्त्रियां अब न पुरुषों की सम्पत्ति हैं, न भोग-सामग्री, न दासी, न पतिव्रता। वे उनकी जीवन-साथी हैं, मित्र, और उनके व्यक्तित्व की पूरक हैं।"

"खैर, तो अब तुमने क्या करना विचारा है, माया?"

"जो कुछ कि मुझे करना चाहिए था। तुम मर्द हो, तुमने प्यार को गौण बना दिया और विलास-वासना को प्रमुखता दी—इसीसे तुम भ्रमर की भांति नई-नई कली का रसपान करना पसन्द करते हो। मैं औरत हूं, प्यार को बड़ी चीज़ समझती हूं। प्यार का मूल्य मुझे ज्ञात है। मैंने अपना प्यार उस पुरुष को दिया है जो मेरे प्रति एकनिष्ठ है, वफादार है। ऐसी हालत में हम पति-पत्नी की भांति नहीं रह सकते। यदि ऐसा करने का हम ढोंग रचें तो हम अपनी ही नज़रों में गिर जाएंगे, अपने-आप ही तुच्छ हो जाएंगे।"

"माया, क्या तुम पीछे अपनी पुरानी जिन्दगी में नहीं लौट सकती?"

"इसका उत्तर तो तुम्हीं ज़्यादा ठीक-ठीक दे सकते हो। क्या तुम ऐसा कर सकते हो? अपनी मैं कहती हूं कि मैं नहीं लौट सकती। मैं प्यार में विलगाव नहीं कर सकती, एक बार जिसे दिया—उसे दिया।

जब तक वह वफादार है, उससे प्यार लौटा नहीं सकती।"

"और यदि वह वफादार न निकले ?"

"तो प्यार का वह अधिकारी ही नहीं रहेगा।"

"माया, मैं तुमसे एक गंभीर बात कहना चाहता हूं।"

"कहो!"

"मर्द औरत से कोरा प्यार ही नहीं चाहता। वह चाहता है प्यार के साथ उसका यौवन-सौन्दर्य, उसका जवानी से भरपूर शरीर। मर्द की वासना स्त्री के शरीर में है, पर स्त्री की वासना पुरुष की शक्ति में है। पुरुष बड़ी उम्र तक अपनी शक्ति कायम रख सकता है, पर स्त्री बड़ी उम्र तक अपने शरीर का यौवन और रूप का जादू कायम नहीं रख सकती। इससे स्त्री यदि प्यार के मामले में पुरुष से स्पर्धा करे तो निश्चय ही उसे घाटे में रहना होगा। उसमें सामर्थ्य है, उसके पास साधन है, वह नित नये यौवन खरीदेगा और उनका उपभोग करेगा; परन्तु यौवन बीत जाने पर स्त्रियां असहाय और निरीह रह जाएंगी, उनका आश्रय छिन जाएगा, उनका घर लुट जाएगा।"

"यही भय दिखाकर मर्द चाहते हैं कि स्त्रियां उनके व्यभिचार को सहन करती रहें, और उनकी एकनिष्ठ बनी रहें। परन्तु तुम समाज के बदलते हुए संगठन को नहीं देख रहे। स्त्रियां अब जीवन-संग्राम में भी पुरुषों के साथ बराबरी की स्पर्धा करती हैं। स्त्रियां अब अपने प्यार की दुकान खोलकर ही बैठी नहीं रहेंगी—वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के साथ रहेंगी। रही आयु और यौवन की बात, तो आयु के साथ ही साथ प्रेम का स्वरूप भी बदलता रहता है। स्त्रियां पत्नी ही नहीं हैं, माताएं भी हैं, और तुम्हें जानना चाहिए कि पत्नी के प्यार की अपेक्षा माता का प्यार बहुत बड़ा है।"

"माया, मैं अनुभव करता हूं कि मैंने तुम्हें क्षति पहुंचाई है। तुम कहो, मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूं ?"

"तुम मुझपर बेवफाई का इलजाम लगाकर मुझे तलाक दे दो। मुझे उज्र न होगा।"

"न, न, ऐसा मैं नहीं कर सकता। यदि यही करना है तो तुम्हीं मुझे लम्पट करार देकर तलाक का दावा कर दो, मुझे उज्र न होगा।"

माया

तलाक मजूर हो गया और राय से मेरा सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। परन्तु पत्नी अपने परिवार मे किस तरह धंसी हुई है, इस बात पर तो मैंने कभी विचार ही नहीं किया था। हकीकत तो यह है कि किसी स्त्री का पत्नी बनना एक ऐसी मानसिक दासता है जिसका आदि है न अन्त। लोग उसे सामाजिक दासता कहते हैं। पर मैं पहले मानसिक दासता की ही बात कहूंगी। अपने पति को —श्री राय को—मैंने तलाक दे दिया। बड़ी आसानी से उनसे मेरी छोड़-छुट्टी हो गई। अब न वे मेरे पति रहे, न मैं उनकी पत्नी। उन्होंने न मेरे काम में बाधा दी न मेरे विचारों मे। काश कि वे मृत्यु तक मेरे पति रहते, मैं उनकी गोदी मे सिर रखकर मरती! वे एक प्रेमी, उदार और खुले मस्तिष्क के पति हैं। उनकी सोहबत मे आनद और स्वतन्त्रता दोनों ही हैं। बाईस वर्ष हम लोग दूध में मिश्री की भांति मिल-जुलकर एक होकर रहे। हम दो हैं, या कभी दो हो सकते हैं, यह कभी मैंने न विचारा था। परन्तु जैसे भूचाल आते हैं, उल्का टूटती है, प्रलय होती है, मृत्यु आती है, वैसे ही यह विछोह भी आ गया। यह अनिवार्य था—मेरी और उनकी, दोनों की प्रतिष्ठा और मर्यादा के लिए। कानून ने, समाज ने, बदले हुए दृष्टिकोण ने मेरी सहायता की। बाईस वर्षों के संस्कारों पर भी मैंने काबू पा लिया। मैंने छाती पत्थर की बनाकर ही यह काम किया था। और अब हम प्रत्येक अर्थ में पति-पत्नी नहीं रहे। परन्तु क्या बेबी भी अब मेरी बेटी न रही? यह बात तो न वह मानती है न मेरा मन मानता है। राय भी यह बात नहीं मानते। अब भी मैं बेबी की मां हूं, सच्ची मां हूं। कानून की कोई धारा, समाज का कोई नियम उससे मेरा विच्छेद नहीं करा सकता।

हो जाती हूं। बहुतों को देवी के समान प्रिय समझती हूं। वे सब अब छूट गए। वे सब अब पराये हो गए। अब उन्हें देखकर मैं गर्व से मुस्करा नहीं सकती, उनपर अपनी ममता जता नहीं सकती। बल्कि कहना चाहिए कि उन्हें देखकर अब शर्म से मुझे मुंह छिपा लेना पड़ेगा। सब नातेदारियां अब खत्म हो गईं। क्यों भला? किस कसूर पर? उन्होंने मेरा क्या बिगाड़ा था? तलाक तो मैंने राय को ही दिया। इसी एक बात से ये सब सम्बन्ध-बन्धन भी टूट गए। मेरी युग की दुनिया उजड़ गई। परिवार की एक सदस्या थी मैं, सबके बीच जगमगा रही थी, अब उखड़कर अकेली रह गई। ओफ, कितनी निराशाजनक, कितनी भयानक बात है!

लेकिन किया भी क्या जा सकता है। वर्मा बहुत भले आदमी हैं। मुझे उन्हें देखते ही अपने जीवन के वे दिन याद आने लगते हैं जब मैं नई ब्याहकर राय के घर में आई थी। वर्मा जब मेरी वैसी ही लल्लो-चप्पो से आवभगत करते हैं, बात-बात पर प्यार जताते हैं जैसे कभी राय जताते थे, तो अब मन में वसी गुदगुदी नहीं होती। वह तो उठती हुई जवानी थी, प्यार का पहला दौर था। नया शरीर था, नई उमंग थी, नया संसार था। जीवन की दुपहरी चढ़ रही थी। अब तो वह बात नहीं है। दुपहरी अब ढल रही है। प्रेम का तूफान तो कब का शान्त हो चुका। अब तो यह सब चोचलेबाजी मुझे हास्यास्पद-सी लगती है। अब तो मैं सोच रही थी कि एक प्रगाढ़ विश्वास, आत्मीयता, गम्भीर एकता और शान्त दृढ़ता—यह सब क्या एक दिन में मुझे मिल जाएगा? कितना तप, कितना त्याग, कितना प्रेम और विश्वास मुझे खर्च करना पड़ा था लगातार बाईस वर्षों तक, तब कहीं ये दिव्य वस्तुएं मुझे प्राप्त हुई थीं! राय से—राय के व्यक्तित्व से उन सब बातों का सीधा सम्बन्ध न था। उनका सम्बन्ध तो उस सम्बन्ध से था जो पति-पत्नी-सम्बन्ध जुड़ने पर अपने-आप ही जुट जाता है। यह था परिवार-सम्बन्ध, जहां मेरा एक गौरवपूर्ण स्थान था, जहां मैं केन्द्र में बैठी थी।

किन्तु अब? वर्मा से अभी मेरा विवाह-सम्बन्ध नहीं हुआ। अभी इस काम में छः मास लग जाएंगे। लोक-मर्यादा ही कुछ ऐसी है। परन्तु इस समय का मेरा जीवन तो देखो, कैसा विचित्र बन गया है! कहने

की अब न राय मेरे पति रहे, न वर्मा पति हैं। दोनों दुनिया की नजर में मेरे मित्र हैं। पर दो भिन्न प्रकार के मित्र। एक वर्मा हैं, जिनमे मैं दुनिया की नजर छिपाकर मिलती हूं, मिलता के सम्बन्ध को अतिक्रांत करके आगे होनेवाले सम्बन्ध की आशा और भरोसे पर। दूसरे हैं राय, जो जीवन-भर अब तक मेरे प्रगाढ़ साथी रहे—और अब बिछुड़ गए, जिनमे फिर मिलने को जी भटकता है, हृदय हुलकता है। पुरानी बातें याद आती हैं, रह-रहकर मन मे हूक उठती है। पर कसकर मन को रोकती हूं—उधर से मन फेरती हूं, पर यह मैं ही जानती हूं कि इन दोनों ही मित्रों से दो भिन्न व्यवहार—राय से मुह फेर लेना, जिनके साथ एक होकर जीवन बीता और दूसरे के निकट जाना, जो अभी मेरे लिए नये हैं, ठीक-ठीक जाने-पहचाने नहीं हैं—कितना कठिन है, कितना दुस्सह है!

अच्छा, प्यार ही की बात लो। मुझसे ज्यादा प्यार के वास्तविक रूप को कौन जान सकता है! मैं औरत हूं, पत्नी रह चुकी हूं पूरे बाईस बरस, और मां हूं उन्नीस बरस से—प्यार की यह त्रिवेणी मेरे कोरे हृदय मे ही नहीं, आत्मा में, चेतना में व्याप्त है।

अब तक मैं एक सच्ची औरत, सच्ची मां और सच्ची पत्नी थी—केवल प्रेम के माध्यम से। प्रेम ही मेरी इन तीनों मर्यादाओं का मध्य बिन्दु था और लगातार बाईस वर्षों तक अनेकों कसौटियों पर कसा जाकर मेरा यह प्रेम एक प्रगाढ़ आस्था बन गया था—एक ऐसा भारी और जबर्दस्त माध्यम कि जिसपर मैं समझती हूं, पूरी मानवता कायम रह सकती है।

परन्तु अब मैं एक नई बात सोच रही हूं, जो अब तक मेरे दिमाग में नहीं आई थी, जिसके इस पहलू को सोचने का मुझे अभी तक अवसर ही नहीं आया था। वह यह कि जीवन में क्या केवल प्यार ही ऐसी महान वस्तु है कि जिसके लिए जीवन बदल दिए जाएं, और ऐसा दु:साहस किया जाए जैसा मैं कर चुकी हूं? अब मैं कुछ-कुछ समझ रही हूं कि ज्यों-ज्यों प्यार की प्रगाढ़ता बढ़ती जाती थी, और वह निखरता जाता था, नया शरीर से हटकर आत्मा मे, चेतना में प्रविष्ट होता जाता था—त्यों-त्यों वह अपना एक नया रूप बदलता जाता था।

वह केवल था कर्तव्य। सचमुच मेरा प्यार समूचा ही औरत का भी, पत्नी का भी और माँ का भी प्यार न रहकर कर्तव्य बन चुका था; कर्तव्य का रूप धारण कर चुका था। और उसीने मेरे इस जीवन में उत्तरोत्तर गरिमा, पवित्रता, आत्मविश्वास और दृढ़ता दी थी। उसने मुझे प्रेरणा दी थी कि प्यार केवल इन्द्रिय-वासनाओं को ही तृप्त करनेवाली वस्तु नहीं है, वह जीवन को समाज के साथ दृढ़ आत्मीयता के सूत्र में बांधने वाली वस्तु भी है, जिससे समाज बनता है, जिससे समाज की निष्ठा बनी है, और जो समाज को मर्यादा में बांधकर सभ्यता के सच्चे रूप में प्रकट करता है। यह काम एक स्त्री या एक पुरुष का नहीं, सबका है। करोड़ों स्त्री-पुरुष युग-युग से प्रेम को प्रगाढ़-प्रगाढ़तर बनाते हुए इसी भांति समाज के चिरन्तन निष्ठा के रूप को, सभ्यता के निखार को प्रकट करते रहे हैं।

अब उस प्यार का शायद मैंने दुरुपयोग किया है, उसे फिर से इन्द्रियों के भोगों की ओर लगाने की राह पर निकल आई हूं। परन्तु क्या अब फिर से नया यौवन भी मुझे प्राप्त हो सकता है? फिर से उन अल्हड़ उमंगों के तूफानों का मन में ज्वार उठ सकता है? मैं तो बाईस बरस तक प्रेम की वासना का स्वाद तृप्त होकर चख चुकी। अब उसकी भूख कहां है? मैं तो उससे अगली पीढ़ी में जाकर मां भी हो चुकी। प्रेम का वह वात्सल्य रूप भी सब चुक-चुकाकर खत्म हो गया। अब यह बासी कढ़ी में उबाल कैसा? छः महीने बाद मैं नई-नवेली बनने जा रही हूं। नये वस्त्रों में सजधजकर, जैसा अब से बाईस वर्ष पूर्व सजी थी। शहनाइयां बजेंगी, मिठाइयां खाई जाएंगी, जश्न होंगे। पर मैं अपने चेहरे की झुर्रियां कहां छिपाऊंगी? अपने ठण्डे, शान्त, तृप्त वातावरण में उत्तेजना और गुदगुदी कहां से लाऊंगी? बाईस बरस तक कहना चाहिए पूरी जवानी-भर जिस भोग के जीवन को छककर, तृप्त होकर भोग चुकी, उसके लिए अब नये सिरे से आकांक्षा, उत्सुकता और उमंग कहां से लाऊंगी? इन सब बातों के लिए तो अब मेरी बेबी का काल था। अभी-अभी उस दिन तक हम दोनों—राय और मैं—उसके ब्याह की बातचीत करते रहे हैं। उन बातों में एक आनन्द, उछाह और आकांक्षा तो थी, पर अब भी क्या हम—राय और मैं—इस सुखद

विषय पर फिर बात करेंगे ? छि-छिः, अब तो मेरा ही ब्याह होगा। और शायद बेबी उसे अपनी आंखों से देखेगी ! ओफ !! शर्म के मारे मैं मर न जाऊंगी ?

किन्तु अब तो मैं घर से बेघर होकर चौराहे पर आ खड़ी हुई हूं। सारे सभ्य संसार से बाहर—बहिष्कृत, अकेली। न मैं किसीकी कुछ हूं न कोई कहीं है। क्या कहकर अब मैं समाज में अपना परिचय दूं ? नगर में हजारों गृहस्थ मुझे जानते हैं। हजारों मेरी प्रतिष्ठा करते थे। श्री राय एक प्रतिष्ठित नागरिक और प्रोफेसर हैं। उनकी प्रतिष्ठा में मेरा भी हिस्सा था। सम्भ्रांत महिलाएं उत्सवों में, समारोहों में चाव से आकर मुझसे मिलती थीं। हंस-हंसकर पूछती थीं—बेबी कैसी है? राय कैसे हैं—और मेरी आंखें गर्व और आनन्द से फूल उठती थीं। पर अब उन बातों से क्या ? अब तो मैं किसीको मुह दिखाना भी नहीं चाहती। घर-घर मेरी चर्चा है, बदनामी है। वे ही महिलाएं, जो मेरे सम्मान में आंखें बिछाती थीं, मुझे हरजाई कहकर मुह बिचकाती है, घृणा करती हैं। भूले-भटके कोई मुझे देख लेती है तो उंगली उठाकर कहती है—यही है वह आवारा औरत ! वे मुझे आवारा कहती हैं, हरजाई कहती हैं, मेरे चरित्र पर कलंक लगाती हैं, परन्तु मैं जानती हूं—यह एक झूठ है। बेशक, मैंने दुःसाहस किया है दूसरी स्त्रियां नहं करतीं—नहीं कर सकतीं। चुपचाप पति के व्यभिचार को सहती हु घर में बैठी आसू बहाती रहती हैं। काश, मैं भी वही भेड़-सी स्त्री होती तो समझती। औरत का जन्म ही घुट-घुटकर मरने और सहन करने के लिए होता है। सभी मर्द अपनी-अपनी औरतों की छाती पर मूग दलते हैं। इसमें नई बात क्या है ! पर मैं तो उन औरतों से भिन्न प्रकार की हूं। मैं यह कैसे बर्दाश्त कर सकती हूं ? मैं औरत को जान को न केवल यही कि वह पुरुष के बराबर है, मानती हूं, मैं यह भी मानती हूं कि वह पुरुष से बढ़कर है। मैं यह भी जानती हू कि समाज का बाहरी बन्धन चाहे जैसा हो, परन्तु जीवन में औरत मर्द के अधीन नहीं है। मर्द ही औरत के अधीन है।

एक बात यह कही जा सकती है कि आत्मसम्मान के नाम पर राय को त्याग देना—उनसे संबंध विच्छेद कर लेना मेरे लिए उचित हो

था, मैंने ठीक किया ; परन्तु अब मुझे दूसरे किसी पुरुष से विवाह नहीं करना चाहिए एकाकी जीवन व्यतीत करना चाहिए। इससे लोगों की नजर में मैं ऊंची उठ जाऊंगी। परन्तु इस सोच और लचर दलील को मैं क्रोधपूर्वक ठोकर मारती हूं। इसका तो साफ-साफ यही अर्थ है कि राय के अपराध का दण्ड मैं भोगूं। राय के मार्ग से सब विघ्न-बाधा हटाकर मैंने उन्हें खुलकर मौज-मजा करने के लिए छुट्टी दे दी, सुविधाओं की राह प्रशस्त कर दी, और अब मैं स्वयं सूली पर टंगी रहकर, समाज के भय से काटी जाकर अपना शेष जीवन व्यतीत कर दूं !

ऐसा मैं नहीं कर सकती, क्योंकि मैं सबसे अधिक अपने ही को प्यार करती हूं। अपने को मैं दुनिया में सबसे अधिक प्रिय मानती हूं। कर्तव्य और निष्ठा के नाम पर मैं आत्मपीड़ा से भी विमुख नहीं होना चाहती, पर मैं अकारण ही निराशावाद, आत्मपीड़ा और निरीह जीवन को भी नहीं पसंद करती। मैं औरत हूं, और मुझे एक मर्द चाहिए। यह बात मैं अपनी आवश्यकता और रुचि के अनुरूप नहीं कहती हूं, न यह नारी-स्वभाव की मांग ही है। असभ्य युग में जब सभ्य समाज न बना था—नर-नारी यौन-सम्बन्ध में उसी प्रकार स्वतन्त्र थे जिस प्रकार पशु-पक्षी। प्रत्येक स्त्री मनचाहे पुरुष से यौन संबंध कर सकती थी, उसे छोड़ सकती थी। वह किसी एक पुरुष से अनुबन्धित नहीं थी। परन्तु सभ्यता की मर्यादा ने एक पुरुष के लिए एक स्त्री, और एक स्त्री के लिए एक पुरुष का बंधन लगा दिया। स्त्री में सभ्यता और समाज के इस बंधन को मान्य करके मैं सभ्यता ही की सीमा में अपने लिए एक अनुगत, प्रिय और अपनी पसंद का पुरुष मांगती हूं। यह मेरा अधिकार है। इसे मैं नहीं त्याग सकती—किसी भी प्रकार से नहीं त्याग सकती।

आप कह सकते हैं कि अब जवानी बीत गई। अट्ठारह-चौसी खत्म हो गई। उतरती उम्र है। अब ये सब बातें शोभनीय नहीं हैं। ठीक है। आप मेरी उम्र की सब स्त्रियों से यही बात कहिए। उन्हें उनके पतियों से, परिवार से, परिजनों से बहिष्कृत कर दीजिए तो मैं इस अभिलाषा को एक समाज का नियम मानकर स्वीकार करूंगी। यदि सभी स्त्रियों को उनके सामाजिक जीवन का आनन्द-भोग करने का अधिकार है,

तो मुझे क्यों नहीं है ? मैंने कौन सा अपराध किया है ?

इसके अतिरिक्त स्थिति से मुझे घृणा है। मैं त्याग के महत्त्व को जानती हूं—पर इतना ज्ञान भी रखती हूं कि त्यागने की वस्तुओं को ही त्यागा जाए और ग्रहण करने योग्य वस्तुओं को ग्रहण किया जाए। आज जब उठते ही मैं सब-कुछ त्याग करती हूं, और पीछे फिरकर उस ओर नहीं देखती। अब आप कहें कि मैं संसार को त्याग दूं, संन्यासिनी बन जाऊं, अपने भोगों को देखती रहूं, तरसती रहूं, अपने भाग्य को दुर्भाग्य में परिवर्तित कर दूं—तो यह किसी कमजोर मूर्ख स्त्री से ही संभव हो सकता है, मुझसे नहीं।

मैं समाज के सर्वोच्च शिखर पर रहूंगी, प्रतिष्ठा और आनन्द के सर्वोच्च आसन पर बैठूंगी, और जीवन के सब आनन्दों को प्राप्त करूंगी। जिस आत्मसम्मान और आत्मनिष्ठा के नाम पर मैंने अपना घर, पति, पुत्री, प्रतिष्ठा और समाज त्यागा है, उसे मैं खोऊंगी नहीं—प्राप्त करूंगी, और उसकी प्राप्ति के लिए प्राणों की बाजी लगा दूंगी।

वर्मा एक निरीह पुरुष हैं, यह मैंने देखा है। एक प्रतिष्ठित नागरिक भी हैं। उनका प्रेम गम्भीर है और वे एक जवांमर्द आदमी हैं। वे उस उम्र को पहुंच चुके हैं जिसमें मर्द के लिए औरत खिलवाड़ की नहीं, काम की वस्तु रह जाती है। ज्यों-ज्यों वे मेरे निकट आते गए हैं, मैं उनके प्रेम की गहराई और सचाई भी परखती गई हूं। प्रारम्भ में मैं उनसे डरती थी, फिर उनके लिए मन में प्रेमभाव उत्पन्न हुआ और अब तो दयाभाव भी है। वे मेरे लिए सब कुछ कर गुज़रने पर आमादा हैं। फिर भी मेरा मन अब इस स्थान पर आ पहुंचने के बाद कांप रहा है। इसलिए नहीं कि वर्मा मुझसे विश्वासघात करेंगे। ऐसा करके वे मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते हैं। अपना ही आश्रय खो देंगे। मैं जानती हूं—उन्हें मेरी आवश्यकता है, भारी आवश्यकता है। उनके जीवन में मेरी कमी है। वे समझते हैं कि मेरे द्वारा उनका जीवन पूर्ण होगा; और मैं जैसे राय के प्रति एकनिष्ठ रही, उनके प्रति भी रहूंगी—जब तक कि वे मेरे प्रति एकनिष्ठ हैं।

बहुत पुरुष लम्पट वृत्ति के होते हैं, जैसे कि राय हैं। उनकी तृप्ति

एक औरत से नहीं होती। वे प्रेम में और वासना में अन्तर नहीं समझते। उनका प्रेम वासना के संकेत पर नाचता है। पर वासना शारीरिक उद्वेग है और प्रेम मानसिक। वासना-पूर्ति के बाद ग्लानि उत्पन्न होती है, पर प्रेम की न कभी पूर्ति होती है न इति, और न ग्लानि का समय आता है। राय पति की हैसियत से भी और पुरुष की हैसियत से भी एक अच्छे व्यक्ति हैं दोनों ही उपयुक्त गुण उनमें हैं, परन्तु वे आदर्श नहीं हैं। उनके साथ एक रूढ़ीवादी पत्नी का निर्वाह हो सकता था जिसका अपना कोई व्यक्तित्व न हो, पर मुझ जैसी औरत का नहीं जो अपने व्यक्तित्व और उसके मूल्य को जानती है। फिर भी मैं बाईस बरस उनके साथ रही। वर्मा शायद आदर्श पति प्रमाणित हों। उनका स्वास्थ्य अलबत्ता राय की अपेक्षा अच्छा नहीं है, परन्तु मैंने उनके विलास में भी न आग्रह देखा है, न सम्पटता। उनके इसी गुण ने मुझे उनकी ओर आकर्षित किया है, और मैं अब पति रूप में उनका वरण करने पर आमादा हूं।

रेखा

माया ने आखिर वर्मा से मिविमर्मेरिज कर ली। राय ने उसके सम्बंध में बहुत-बहुत बातें की हैं। ऐसा प्रतीत होता है, राय का दिल टूट गया है। वे जरूर ही माया को प्यार करते थे। वह सब प्यार अब उन्होंने मुझे ही समर्पित कर दिया है, वचन से भी और चेष्टा से भी राय यही प्रमाणित करते हैं। मैं उनसे प्यार करती हूं या नहीं—यह मैं नहीं कह सकती। मैंने बहुत बार मन से इस बात का उत्तर मांगा है—पर हर बार दिल धड़कने लगता है, उत्तर नहीं मिलता। फिर भी इतनी बात तो है कि जब उनके आने का समय होता है तो एक विचित्र गुदगुदी मन में होने लगती है, और यदि आने में ज़रा भी देर हो जाती है तो बेचैनी होने लगती है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे जूड़ी चढ़नेवाली है। उनके आने पर प्रसन्नता होती है, यह बात मैं नहीं कह सकती। शायद प्रसन्नता नहीं होती, भय होता है। किंतु भय किससे? दत्त से? नहीं, इस बात में वे पूरे सावधान हैं कि वे उसी समय आते हैं जब राय के घर में होने की सम्भावना नहीं रहती। फिर भी भय है। यह भय न मुझे दत्त से है, न राय से—अपने ही से है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मैं अपने ही से चोरी कर रही हूं; अपने ही को ठग रही हूं। परन्तु उस भय के साथ एक अवश उत्तेजना भी, एक आत्मकम्पन भी मैं अनुभव करती हूं। उनके अंकपाश में अवश्य मुझे एक आनंद मिलता है। उस आनंद की बात कही नहीं जा सकती है। उस आनंद में हर्ष नहीं होता—नाश होता है। वह न त्यागा जा सकता है, न ग्रहण किया जा सकता है। बहुधा मैं राय के जाने के बाद रोई हूं, मन में प्रतिज्ञा की है कि कह दूंगी—नहीं, अब न आया करें। पर मैं ऐसा नहीं कर सकी, शायद कर सकती भी नहीं। मैं बेबस हो जाती हूं। जैसे बीन की स्वर-

पर मस्त होकर नागिन लहराती है—उसी भांति मैं भी लहरा
ी हूं।

दत्त के अंकपाश में मैंने हर्षातिरेक प्राप्त किया है। वे सब बातें
अब भी याद हैं। उन्हें याद करके मुझे अब भी रोमांच हो जाता है।
हती हूं, दत्त के अंकपाश में फिर से वही अनिर्वचनीय आनंद,
हर्षातिरेक, वही पूर्ण तृप्ति, वही निश्चित सुख प्राप्त करूं; पर
कर पाती। दत्त का अंक तो अब भी मुझे उपलब्ध है। वे पहले की
क्षा अब मेरा ज्यादा ख्याल करते हैं। शराब भी कम कर दी है।
लाप भी करते हैं। सुख भी देते हैं। स्वीकार करती हूं, शरीर-सुख
की सामर्थ्य उनमें राय से बहुत अधिक है। राय की अपेक्षा वे
दर भी अधिक हैं, बलवान भी अधिक और शायद प्रेमी भी अधिक
, वे मेरे हैं, मैं उनकी हूं। उनके और मेरे मिलन में न कोई बाधा है,
भय, न रोकथाम है। जब वे निकट नहीं होते हैं, मैं उनका ध्यान
ती हूं। पर उनके निकट रहने पर राय की स्मृति मेरी चेतना को
क्रान्त कर जाती है, आहत कर जाती है। उनके अंकपाश में मैं कटी
ता के समान ढेर होकर पड़ जाती हूं। उनकी किसी अभिलाषा में मैं
धा नहीं देती, पर यह मैं देखती हूं कि राय इससे संतुष्ट नहीं होते।
न्हें चाहिए मेरा आग्रह, प्रवृत्ति, प्रबल भोग की भूख। यह सब अब
हा है? कहां से दूं मैं उन्हें ये सब अलभ्य पदार्थ, जिन्हें पाकर मर्द की
र्दानगी कृतकृत्य हो जाती है, तृप्त हो जाती है?

मैं जानती हूं, पुरुष का स्त्री से यह प्राप्तव्य है। पुरुष दाता होने
ा कोरा दम्भ भी नहीं करता। वह प्रकृत दाता है भी। वह आरम्भ
से स्त्री को लेना सिखाता है और जब स्त्री लेना सीख जाती है—सीख-
कर वह अधिकाधिक लेने को पागल हो जाती है, तो वह उसे देते
अघाता नहीं है। ज्यों-ज्यों देता है, उसकी मर्दानगी निखरती है। जो
आनंद स्त्री को लेने में आता है उससे सहस्र गुणा आनंद पुरुष को देने
में आता है, और ऐसे भी क्षण आते हैं जब स्त्री इतना भोगती है कि
पुरुष का सर्वस्व चुक जाता है, दे नहीं सकता है, तब भी वह राई-रत्ती
सब कुछ दे डालने ही में चरम सुख की अनुभूति करता है।

इस दासत्व से ही वह स्त्री के स्त्रीत्व को खरीदता है। वह अखिल

संसार में विचरण करता है, और स्त्री उसकी प्रतीक्षा में आँखें बिछाए बैठी रहती है, आतुर-व्याकुल। दत्त अभी देने में समर्थ हैं। बहुत समर्थ हैं। देय पदार्थ उनके पास बहुत है। वे अंधाधुंध देते हैं। पर जो कुछ वे देते हैं वह मेरे इधर-उधर चारों ओर बिखर जाता है, मैं उसे समेट नहीं पाती हूं; जैसे पहले समेटती थी, पाकर हर्षित होती थी—अब नहीं होती हूं। दत्त जैसे यह सब देखते हैं। औरत यदि मर्द की मर्दानगी को सिर पर उठाकर उन्मत्त होकर हर्षनृत्य न करे, तो मर्द के दान का माहात्म्य भी क्या रहा! मर्द दे और औरत उसे ग्रहण न करे, बखेर दे, बिखरा पड़ा रहने दे, तो मर्द यह सहन नहीं कर सकते। देने की यथार्थता लेने में ही है। बिना लिए देना व्यर्थ है। लेने का सुख जहां नहीं है—वहां देने का सुख भी नहीं है। यही मैं देखती हूं। दत्त बड़े उत्साह से मुझे देय देते हैं। बड़ा दुर्लभ है वह दान—ऐसा सौ में से एकाध स्त्री को भी मिलना दुर्लभ है। जिसे मिलता है वह कृतकृत्य हो जाती है, उसका नारीत्व धन्य हो जाता है। पर जब वे मुझे लेने में एकदम उदासीन देखते हैं तो वे भी उदास हो जाते हैं। और उनका वह अवसाद भी कितना दयनीय है कि कभी-कभी मैं देखकर रो देती हूं! अब गुसलखाने से उनके गुनगुनाने की आवाज नहीं आती। अब बिजलियों की कड़क और बादलों की गर्जना उनके हास्य में नहीं दीख पड़ती। अब तो उनकी हंसी बरसाती धूप की भांति क्षणिक होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वे जीवन से थक गए हैं अभी से—इसी उम्र में। यद्यपि अभी उन्होंने जीवन का भोग भोगा ही क्या है!

बहुधा वे प्रद्युम्न के साथ बातें करते-करते रात को सो जाते हैं, और सुबह उसे जगाकर उसकी मीठी-मीठी बातें सुनते हैं। वे अब पति कम और पिता अधिक बन गए हैं। पर मैं शायद न पत्नी रही हूं न माता। अब क्या अंजाम होगा मेरा?

राय अपने काम में बहुत सावधान हैं। वे सदा अनुकूल समय पर आते हैं। जब वे आफिस चले जाते हैं, प्रद्युम्न स्कूल चला जाता है। नौकरों को मैं दो घण्टे की छुट्टी दे देती हूं, और स्वयं ड्राइंग रूम में चली जाती हूं। तभी वे आते हैं, चुपचाप, और मैं उनमें खो जाती हूं। बहुधा वे एक घंटा मेरे पास रहते हैं, पर इस एक घंटे में कभी-कभी एकाध

बात होती है। बातचीत प्यार-मुहब्बत की नहीं, आगामी मिलन-सकेत की। और कभी वह भी नहीं। वे जिस तेज़ी से चुपचाप आते हैं, उसी तेज़ी से चले जाते हैं। और उनके जाने के बाद उन्होंने जो कुछ दिया उसे बटोरने, सहेजकर रखने की चेष्टा करती हूं। पर न बटोर सकती हूं, और न सहेजकर रख सकती हूं। वे प्यार देते हैं, सुख देते हैं, तृप्ति देते हैं; पर उनके जाते ही वह प्यार भय बन जाता है, सुख डंक मारने लगता है और तृप्ति प्यास को भड़का देती है। मन होता है—बस, अब नहीं चाहिए। पर उनके आने की प्रतीक्षा में मैं अधमरी हो जाती हूं। *ऐसी प्रतीक्षा मैंने दत्त की कभी नहीं की। झूठ मैं नहीं बोलूंगी, दत्त को* मैंने प्यार किया—बहुत—बहुत—बहुत। पर राय को न तब न अब। बहुत सोचा, पर भीतर से द्वार बंद मिला, प्यार की आवाज़ सुनाई न दी। *प्यार नहीं करती हूं तो क्या करती हूं ?—यह मैं नहीं जानती।* इतनी उत्कट प्रतीक्षा कैसे करती हू, यह भी नहीं बता सकती। अपने को कैसे उनके अंक में सौंप देती हू, यह भी नहीं जानती। केवल इतना जानती हूं कि यह सब करके सुखी नहीं होती, निश्चिन्त नहीं होती, तृप्त नहीं होती। मुझे लगता है, मैं चोर हूं, मैंने अपने को ठग लिया है, और मैं अखाद्य-भक्षण कर रही हूं। फिर भी उससे मैं अपने को विरत नहीं कर पाती हू।

उस दिन मैंने कहा, "यह सब हो क्या रहा है? इसका अन्त कहा होगा?" तो उन्होंने जवाब नहीं दिया। बड़ी देर तक आलिंगन में जकड़े बैठे रहे और फिर चल दिए। मैं माया की बात कहती हूं तो लंबी-लम्बी सांस लेते हैं। कहा गई उनकी वह वाचालता? पहले तो बहुत हसते थे, बातें बनाते थे, बड़े दिलचस्प आदमी थे। पर अब तो पत्थर के बुत हैं। बस, आकर टकराते हैं, धाव कर जाते हैं और चले जाते हैं।

मैं नहीं जानती कि दत्त को उनपर सन्देह है या नहीं—शायद नहीं है, शायद है। छुट्टी के दिन वे दत्त के सामने आते हैं। तब पहले जैसी चुहल करने की चेष्टा भी करते हैं, पर वह बन नहीं पाती। अपनी घबराहट को वे प्रद्युम्न से मन बहलाकर छिपा लेते हैं। मैं भी तो अब उनसे बात नहीं करती। दूर ही रहती हूं। क्या बात करूं भला? अपने को कैसे ठगूं? इतनी प्रवंचना कहां से लाऊं? मैं जानती हू—दत्त बड़े

कती ? वह जगजाहिर हो जाता है। नहीं, नहीं, स्त्री पुरुष की
ता का दावा नहीं कर सकती। मैं अपने ही को देख रही हूं न। मैं
से अपने को दया की भिखारिन समझ रही हूं—दत्त की दया की
ौर राय की दया की भी। प्रकृत अधिकारिणी तो मैं प्यार की थी।
क्या मुझे मिला नहीं? खूब मिला—दत्त का भी और राय का
पर अब, अब वह प्यार ही मुझे नाग बनकर डस रहा है। अब
ह दया करके मुझे छोड़ दे, इसे नहीं यही मेरे लिए बहुत है।
अब तो मुझे संसार में भय ही भय नजर आ रहा है। भय की
ी छाया हर समय मुझे घेरे रहती है। चाहती हूं, राय से खुलकर
कहूं। नहीं तो उन्हें यहां न आने को कहूं, सब सम्बन्ध तोड़ दूं।
ई दिल से निकाल फेंकूं। अभी हुआ ही क्या है! अभी तो सब कुछ
में ही है। अब भी मैं सच्चे मन से दत्त को प्यार करूं तो मैं निहाल
सकती हूं। परन्तु पता नहीं यह कौन शैतान मुझपर सवारी गांठ
ा है, कैसा नाश मुझपर व्यापा है कि मुझे प्रकाश का सीधा रास्ता
ी दीखता है। देखती हूं कि जहर है, पर खाए जा रही हूं। सच है—
न की राह कितनी होती है। एक बार फिसलने पर फिर सम्भलना
श्किल है। अब तो दिल में घाव खा बैठे। मन में चोर घुस बैठा।
रीर में कलंक का दाग लग चुका। मेरा नारी-जीवन मलिन हो गया,
ली की पवित्रता मैं खो चुकी। और जीवन की सीधी-सरल राह—
हस्राब्दियों से समाज के नियन्ता मनीषियों ने जिनका निर्माण किया
ा—छोड़कर मैं कटीली झाड़ियों में भटक गई। कौन अब मुझे राह
दिखाएगा? कौन मुझे सीधी राह पर लाएगा? कौन मेरा हितू है?
कौन मेरा सहायक है? अरे, मैं तो खुद ही अपनी दुश्मन बन गई! मैंने
अपने ही हाथ से अपनी राह में कुएं खोद लिए। भोजन में रेत मिला
लिया, अंधकार जीवन को अपने में समेटता-सा आ रहा है, भगवान ही
जानता है कि अंजाम क्या होगा!

दाई अपने हाथ से बांधती थी। नया रूमाल तह कर जेब में रख देती थीं, और जैसे रस्सी में बंधी हो, इस तरह खिंची हुई दरवाज़े तक चली जाती थीं। और जब उनके वापस घर आने का समय होता था, उससे प्रथम ही गर्म-ताज़ा नाश्ता तैयार करती थीं। मेरे कपड़े बदलती थीं। बचपन ही से वे मुझे *गुड़िया की तरह सजाकर उनके सामने लाती थीं।* बस एक उन्हींकी बात उनकी ज़बान पर रहती थी। सो अब वे इस तरह चली गईं निर्मोही होकर।

मुझे घर सूना लग रहा है। पापा ने कहा भी 'कोई दाई रख लो। दाई भला क्या करेगी? अब तो पापा की सब ज़िम्मेदारी मेरे ही ऊपर है। पर ममी जैसी फुर्ती, चुस्ती और सुघड़ाई मैं कहां से लाऊं? ममी ने तो लाड़-प्यार में मुझे मिट्टी कर दिया था। पर मैं पापा को भला इस तरह निरीह-निराश्रित कैसे छोड़ सकती हूं! मैं उन्हें आफिस भेजकर कालिज जाती हू, और आकर सबसे पहले उनके लिए नाश्ता बनाती हूं। उनकी हर बात का पूरा ध्यान रखती हू, पर फिर भी उन्हें पहले की भांति हंसा नहीं सकती, उनकी उदासी दूर नहीं कर सकती।

आज छुट्टी थी। पापा कहीं दौरे पर गए हैं। परसों आएंगे। इससे मैं भी ज़रा ढीली पड़ी हुई थी। ममी की याद कर रही थी और कभी-कभी एकाध आसू आ जाता था। उसे योंही पोंछ लेती थी। योंही मैग-ज़ीन के पन्ने पलट रही थी। अकस्मात् ही आकर उन्होंने मुझे अपने अकपाश में बांध लिया। पहले तो मैं घबरा गई। बाद मे उन्हें देखा। नमस्कार किया। परन्तु उन्होंने मुझे छोड़ा नहीं। गोद में लिए बैठी रही, जैसे बच्चे को लेकर मां बैठती है। कितना अच्छा लगा मुझे, क्या कहूं!

उन्होंने हंसकर कहा, 'अकेली बैठी किसकी याद कर रही थी बेबी।"

"आपकी!" मैंने भी हंसते हुए कहा।

"सच? ममी की नहीं?"

"आप मेरी ममी हैं!" न जाने कहां से एक खीज मन से बाहर निकल आकर ज़बान पर बैठ गई ममी की याद से और मेरे मुंह से यह वाक्य निकल गया। उन्होंने सुनकर मुझे चूम लिया। आहिस्ता से कहा, 'काश, मैं तुम्हारी ममी होती! कितनी प्यारी बिटिया हो तुम! कैसे

मुझे छोड़कर चली गई तुम्हारी ममी ।" मेरी आँखों में आँसू छलछला आए । उन्होंने आँसू पोंछकर कहा

"अब तो तुमने मुझे ममी कह ही दिया !"

"पर मेरी ममी है, इतना प्यार तो ममी ही कर सकती है।" मैंने कहा और उनके कन्धे में अपनी भुजाएँ डाल दीं ।

इसके बाद बहुत सी बातें हुईं । सारे परिवार तथा पापा के समाचार ले लीं । वे खोद-खोदकर पूछने लगीं, "कभी तुम्हारे पापा भी याद करते हैं तुम्हारी ममी को, बेबी !"

मैं क्या जवाब देती भला ! मैं चुप हो गई । पापा की बात सुनने का वे जैसे बहुत उत्सुक हो रही थीं । घूम-फिरकर फिर उन्हीं की बातें करती थीं । उन्होंने पूछा, "क्या तुम्हारी ममी तुम्हारे पापा को बहुत प्यार करती थीं ?"

"ओह, बहुत""बहुत !"

"और तुमको ?"

"मुझे भी ।"

"फिर ऐसी सुन्दर बिटिया, ऐसे घर और पति को छोड़कर वे क्यों चली गईं ?"

मेरा मन कुण्ठा से भर गया यह बात सुनकर । भला मेरे पास इन बातों का क्या जवाब था ! पर धीरे-धीरे उन्होंने मुझसे पापा की बहुत बातें जान लीं । पापा ममी को याद करके रोते हैं । रात को देर तक सोते नहीं हैं ; जीवन की हर बात से उदासीन हो गए हैं । वे सब सुनती रहीं। चुपचाप सुनती रहीं। फिर उन्होंने एकाएक पूछा, 'बेबी, तुम्हारे पापा को भला और भी कोई प्यार करता है ?"

मैं उनका मुंह ताकने लगी । मेरी समझ में बात नहीं आई ।

उन्होंने कहा, "यदि कोई उन्हें उतना ही प्यार करे जितना तुम्हारी ममी करती थी, तो तुम उसे क्या कहोगी ?"

"ओह ! मैं भी उन्हें प्यार करूंगी । पर ममी जैसा प्यार पापा को कौन करेगा ?"

"यदि मैं करूं ?"

मैंने अचकचाकर उनके मुख की ओर देखा । वह लाल हो रहा था

और आंखें सावन-भादों के बादलों की भांति भरी हुई थीं। मैं कुछ समझी और कुछ न समझी। 'मोह' कहकर उनकी गोद में गिर गई।

और तब उन्होंने खोलकर सब बातें मुझे धीरे-धीरे बता दीं। अभी मैंने दुनिया नहीं देखी थी, पर मैं उनकी बातें सब समझ गई। अब मैं जान गई कि पापा उन्हें प्यार करते हैं और वे पापा को प्यार करती हैं। इस काम में कुछ बाधाओं की ओर उन्होंने संकेत किया जिन्हें मैं नहीं समझ सकी। पर प्रेम-प्यार की बातें सब समझ गई। सुनकर कुछ भय, कष्ट, आशंका, उद्वेग मेरे मन में उत्पन्न हुआ। अन्त में उन्होंने कहा, 'बेबी, तुमने मुझे ममी कहा है। भाग्य ने तुम्हें ममी की गोद से गिरा दिया है। मैं जानती हूं, तुम्हारी ममी के जाने का तुम्हें भी सदमा है और तुम्हारे पापा को भी है। और अब तुम बच्ची नहीं हो—सब बातें समझती हो। जैसे भाग्य ने तुम्हारी ममी से तुम्हारे पापा का विछोह करा दिया, उसी भांति भाग्य ने मुझे उनसे मिला दिया। बहुत दिन से मैं सोच रही थी कि मैं तुमसे यह बात कह दूं। तुम्हें तो मैंने उसी दिन एक बार देखा था जब तुम मेरे घर गई थीं। किन्तु उसी एक बार देखने के बाद मैंने तुम्हें कभी नहीं भुलाया। और जब तुम्हारे पापा से मेरी घनिष्ठता बढ़ी, तो मेरे मानस में यह एक तीव्र भावना उत्पन्न हुई कि मैं तुम्हारी ममी बनने जा रही हूं। कैसे आश्चर्य की बात है कि तुमने मुझे ममी मान लिया! अब मुझे एक बात बताओ—यही बात पूछने को मैं तुम्हारे पास आई हूं।"

"आप पूछिए।"

"यदि मैं उस घर को छोड़कर तुम्हारे घर आ रहूं, तो तुम मेरे विषय में क्या ख्याल करोगी?"

"आप मेरे घर में कैसे आ रहेंगी?"

"जैसे तुम्हारी ममी वर्मा साहब के घर पर जाकर रहीं।"

"लेकिन उन्होंने तो पापा को तलाक दे दिया और उनसे शादी कर ली।"

"मैं भी दत्त को तलाक दे दूंगी और तुम्हारे पापा से शादी कर लूंगी।"

"हे भगवान! ऐसा भी कहीं हो सकता है।"

सुनीलदत्त

क्या रेखा वफादार औरत नहीं है ? लेकिन मैं यह कैसी वाहियात बात सोच रहा हूं ! मुझे जल्दी में कोई निर्णय नहीं देना चाहिए। सब बातों पर अच्छी तरह सोच-समझ लेना चाहिए। आखिर यह सवाल मेरे मन में क्यों घर करता जा रहा है ? बेशक रेखा के व्यवहार में अब जमीन-आसमान का अन्तर हो गया है। पर इसके दूसरे स्वाभाविक कारण भी तो हो सकते हैं। आखिर वह अब एक बच्चे की भी मां है। हमारा ब्याह हुए अब तो साल बीत रहे हैं। अब मैं उससे एक नई-नवेली स्त्री की भांति व्यवहार की आशा कैसे कर सकता हूं ? फिर उसका प्यार अब पति-पुत्र में भी तो बंट गया है। क्या मुझे मुनासिब है कि मैं बेटे से ही ईर्ष्या करूं ?

लेकिन वह मेरे लिए एक ठण्डी औरत है। मेरे स्पर्श से उसमें नारीत्व का जागरण नहीं होता—उलटे वह सिकुड़ जाती है, छुईमुई की भांति। उसका आलिंगन भी अब सजीव नहीं रहा। उसमें अब न 'ना' है—न 'हां' है। जैसे वह एक पत्थर की निर्जीव मूर्ति है। जैसे उसकी रगों में लहू नहीं है, पानी है। वह कभी उत्तेजित नहीं होती। कभी उसकी चेष्टा में गर्मी नहीं आती। परन्तु यह एक रोग भी तो हो सकता है। हां, हां, यह एक रोग है। बहुत स्त्रियों को यह रोग होता है। वे ठण्डी होती हैं। मैं इस सम्बन्ध में बहुत अच्छी तरह विचार करता रहा हूं। मैं न मूढ़ पुरुष हूं, न मूर्ख। मैंने सभी बातों पर वैज्ञानिक विवेचन किया है।

निस्सन्देह नर-नारी का वैध सम्भोग ही विवाह का उद्देश्य है। वैवाहिक जीवन की सबसे बड़ी सफलता 'बराबर की जोड़ी' है। मैं जानता हूं कि सम्भोग की बात अश्लील और घृणास्पद समझी जाती

है। और विवाह के समय सौ में एक भी जोड़ा सम्भोग-संबन्धी समानता की बातों पर विचार नहीं करता। और इसका यह परिणाम निकलता है कि विवाह एक धोखे की टट्टी प्रमाणित होता है। विवाह के बाद या तो जल्द ही पति-पत्नी में विच्छेद हो जाता है, या कलह के बीज जमते हैं, या दोनों में से कोई एक या दोनों ही परस्त्रीगामी और पर-पुरुष-गामी हो जाते हैं। समय और सुविधा उनसे यह सब काम कराती है। कहीं पुरुष का अतिरेक होता है और वह बलात्कार की सीमा तक पहुंच जाता है। तब वे अपार कष्ट पाती हैं, और असाध्य रोगों की शिकार हो जाती हैं। कुछ सामाजिक स्थिति ही ऐसी है कि स्त्री को पति की इच्छाओं से विवश होकर दासी बनने को छोड़ दूसरा मार्ग ही नहीं रह जाता। वह यदि झगड़ा करती है तो पति अन्य पतिता स्त्रियों से सर्वत्र संबन्ध स्थापित कर लेता है, जो एक नये क्लेश का कारण बन जाता है। मैं ऐसे बहुत-से पुरुषों को जानता हूं। उनमें अनेक प्रतिष्ठित और सुशिक्षित पुरुष भी हैं।

निस्संदेह पुरुष बलात् स्त्री से उसकी इच्छा और आवश्यकताओं की परवाह किए बिना संभोग नहीं कर सकता। यदि करे तो वह स्त्री के लिए एक क्लेश का कारण बन जाएगा। उससे स्त्री को किसी भी प्रकार का सुख प्राप्त न होगा, और वह विकट स्नायुरोगों का शिकार बन जाएगी। इसके अतिरिक्त ऐसी हालत में—उनमें चाहे जितना प्रेम हो—उसमें विरक्ति के बीज उग आएंगे। और उनमें वह गहरी एकता, जिसकी दोनों के लिए बड़ी आवश्यकता है, नहीं उत्पन्न हो सकती। मैंने इन सब बातों पर विचार किया है, इनकी लाभ-हानि पर दृष्टि दी है। इसीसे मैं अपने को काबू में रखता हूं। रेखा की रुचि और इच्छा के विपरीत बलात्कार नहीं करता हूं। परन्तु मैं एक स्वस्थ पुरुष हूं। पत्नी में एकनिष्ठ हूं। मेरे मन में जब स्त्री की भूख जागरित होती है, तब मेरी आवश्यकता की पूर्ति होनी चाहिए। वह पूर्ति रेखा नहीं करती। इसीसे मेरे मन में यह शंका उठती है कि वह ठण्डी है। परन्तु वह पहले तो ऐसी न थी। मैं जानता हूं, कुछ स्त्रियां स्वभाव से ठण्डी होती हैं। कुछ विश्राम न मिलने से ठण्डी हो जाती हैं। ऐसे पुरुष बहुत हैं जो इस बात की परवाह नहीं करते कि संभोग में उनकी स्त्री उनकी संगिनी और

हिस्सेदार है भी या नहीं। ऐसे वे लोग होते हैं जो स्त्रियों को बच्चा
पैदा करने की मशीन समझते हैं बहुत-सी स्त्रियां शील-संकोच के कारण
अपने मनोभाव प्रकट नहीं करतीं और वे पति के सच्चे सहवास-सुख से
वंचित रह जाती हैं। परन्तु रेखा के सम्बन्ध में तो ये बातें नहीं हैं।
पहले वह मेरी सच्चे अर्थों में बराबर की भागीदार थी, पर अब नहीं।
अब उसे क्या हो गया है। कोई रोग है या कोई और बात है ? मुझे पता
लगाना होगा। इसीसे उस दिन मैंने उससे इस सम्बन्ध में बातें की
थीं। पर उसने एक सूखा-सा जवाब दे दिया कि उसे कुछ भी नहीं हुआ
है, वह ठीक है। पर ठीक कहा है ? फिर यह रुखाई उसमें कहां से
उत्पन्न हो गई है ? मैंने उसे डाक्टर के यहां चलने को कहा, पर उसने
इन्कार कर दिया। वह अब शय्या पर आते ही सो जाती है। बहुधा वह
प्रद्युम्न के साथ सोना पसन्द करती है। मेरा प्रेमालाप तक अब उसे
सह्य नहीं है। वह मुझे रुखाई से झिड़क देती है। उसका कहना है कि
अब हम नवदम्पति नहीं रहे और हमें कामुकता की बातें या चेष्टा
नहीं करनी चाहिए। मैंने ध्यान से देखा है कि उसके मन में विरक्ति
और आंखों में घृणा के से भाव उभरते चले आ रहे हैं। जितना ही मैं
उसे निकट लाना चाहता हूं, वह दूर भागती है। ऐसा प्रतीत होता है
उसे अब मेरी आवश्यकता ही नहीं रह गई है।

अन्ततः मैं चिकित्सक के पास गया। सब हकीकत बयान की। उसने
मुझे उसके लिए कुछ औषध दी और कहा कि मुझे धैर्य से काम लेना
चाहिए, सच्चा प्रेम प्रकट करना चाहिए, कोमल व्यवहार से उसे प्रसन्न
रखना चाहिए। इस तरह धीरे-धीरे उसका ठण्डा मन पिघलेगा। शरीर
में जिन तत्त्वों की कमी है, उनकी पूर्ति औषध करेगी।

मैं स्वीकार करता हूं, कभी-कभी जब मैं उसे अपने निकट निर्जीव-
सी पड़ी देखता हूं तो मुझे क्रोध आ जाता है। पर चिढ़ने और क्रो-
करने से क्या होगा ? बारीकी से उसका सही कारण ढूंढ़ना होगा। मैं
उसे औषध दी, उसने उसे नहीं खाया। एक अवज्ञा की नजर मुझ
डाली।

वह कहती है कि वह ठीक है, रोगिणी नहीं है। मैं भी अब य
समझता हूं। तब उसकी इस घोर विरक्ति का कारण क्या है ? यदि व

है। और विवाह के समय सौ में एक भी जोड़ा सम्भोग-संबन्धी समानता की बातों पर विचार नहीं करता। और इसका यह परिणाम निकलता है कि विवाह एक धोखे की टट्टी प्रमाणित होता है। विवाह के बाद या तो जल्द ही पति-पत्नी में विच्छेद हो जाता है, या कलह के बीज जमते हैं, या दोनों में से कोई एक या दोनों ही परस्त्रीगामी और पर-पुरुषगामी हो जाते हैं। समय और सुविधा उनसे यह सब काम कराती है। जहाँ पुरुष का अतिरेक होता है और वह बलात्कार की सीमा तक पहुंच जाता है। तब वे अपार कष्ट पाती हैं, और असाध्य रोगों की शिकार हो जाती हैं। कुछ सामाजिक स्थिति ही ऐसी है कि स्त्री को पति की इच्छाओं से विवश होकर दासी बनने को छोड़ दूसरा मार्ग ही नहीं रह जाता। वह यदि झगड़ा करती है तो पति अन्य पतिता स्त्रियों से अवैध संबन्ध स्थापित कर लेता है, जो एक नये क्लेश का कारण बन जाता है। मैं ऐसे बहुत-से पुरुषों को जानता हूं। उनमें अनेक प्रतिष्ठित और सुशिक्षित पुरुष भी हैं।

निस्संदेह पुरुष बलात् स्त्री से उसकी इच्छा और आवश्यकताओं की परवाह किए बिना संभोग नहीं कर सकता। यदि करे तो वह स्त्री के लिए एक क्लेश का कारण बन जाएगा। उससे स्त्री को किसी भी प्रकार का सुख प्राप्त न होगा, और वह विकट स्नायुरोगों का शिकार बन जाएगी। इसके अतिरिक्त ऐसी हालत में—उनमें चाहे जितना प्रेम हो—उसमें विरक्ति के बीज उग आएंगे। और उनमें वह गहरी एकता, जिसकी दोनों के लिए बड़ी आवश्यकता है, नहीं उत्पन्न हो सकती। मैंने इन सब बातों पर विचार किया है, इनकी लाभ-हानि पर दृष्टि दी है। इसीसे मैं अपने को काबू में रखता हूं। रेखा की रुचि और इच्छा के विपरीत बलात्कार नहीं करता हूं। परन्तु मैं एक स्वस्थ पुरुष हूं। पत्नी में एकनिष्ठ हूं। मेरे मन में जब स्त्री की भूख जागरित होती है, तब मेरी आवश्यकता की पूर्ति होनी चाहिए। वह पूर्ति रेखा नहीं करती। इसीसे मेरे मन में यह शंका उठती है कि वह ठण्डी है। परन्तु वह पहले तो ऐसी न थी। मैं जानता हूं, कुछ स्त्रियां स्वभाव से ठण्डी होती हैं। कुछ विश्राम न मिलने से ठण्डी हो जाती हैं। ऐसे पुरु-
बात की परवाह नहीं करते [illegible]

दिलीपकुमार राय

स्त्री जितनी ही शीलवती होती है उतनी ही वह सवेदनशील होती है। जितनी वह सवेदनशील होती है उतनी ही भावुक होती है। जितनी वह भावुक होती है उतनी ही प्रेमवती होती है। जितनी ही वह प्रेमवती होती है उतनी ही आग्रही स्वभाव की और मानवती भी होती है। सभी भावुक, एकनिष्ठ और प्रेमवती स्त्रियां मानवती हुआ करती हैं।

प्रेम मन का एक अत्यन्त कोमल और सवेदनशील भाव है। उस का संबंध चेतनाशक्ति के सबसे अधिक शक्तिसम्पन्न और प्रवाहमय केन्द्र से है। इसलिए अत्यत कोमल प्रभाव जो स्त्री से पुरुष पर और पुरुष से स्त्री पर आता है, वही सर्वाधिक शक्तिशाली होता है। इस नाजुक तथ्य को लाखो करोडो नर नारी नही जानते। कोमल, भावुक, प्रेमवती स्त्री तनिक-सी भी तो परुषता—कठोरता—को नहीं सहन कर सकती। कामावेग बेशक कठोर आघात चाहता है। कामावेग मे स्त्री चरम सीमा का कठोर आघात भी सह सकती है। कहना चाहिए, उसकी कामना करती है—पर तन का ही, मन का नहीं। कामावेग से प्रथम प्रेमावेग का ज्वार आता है। कहना चाहिए, कामदेव प्रेमावेग पर ही सवार होकर आते हैं। स्त्री प्रेमावेग मे अतिशय भावुक, अतिशय नाजुक हो जाती है। उसकी सम्पूर्ण चेतनाए सवेदनशील बन जाती हैं। इसलिए वह प्रेमावेग मे एक बाल बराबर की भी कठोरता-परुषता सहन नही कर सकती। उस समय का पुरुष-मन का तनिक-सा भी पुरुषभाव उसे विरत कर देता है।

रति प्रेम और काम दोनों ही का सार है। रति मे स्त्री का विरत होना भला कैसे सहा जा सकता है। रतिकाल मे विरत स्त्री तो है ही नहीं, स्त्री की लाश है। कौन पशु लाश के साथ रति कर सकता है!

दिलीपकुमार राय

स्त्री जितनी ही शीलवती होती है उतनी ही वह संवेदनशील होती है। जितनी वह संवेदनशील होती है उतनी ही भावुक होती है। जितनी वह भावुक होती है उतनी ही प्रेमवती होती है। जितनी ही वह प्रेमवती होती है उतनी ही आग्रही स्वभाव की और मानवती भी होती है। सभी भावुक, एकनिष्ठ और प्रेमवती स्त्रियां मानवती हुआ करती हैं।

प्रेम मन का एक अत्यन्त कोमल और संवेदनशील भाव है। उस का संबंध चेतनाशक्ति के सबसे अधिक शक्तिसम्पन्न और प्रवाहमय केन्द्र से है। इसलिए अत्यंत कोमल प्रभाव जो स्त्री से पुरुष पर और पुरुष से स्त्री पर आता है, वही सर्वाधिक शक्तिशाली होता है। इस नाजुक तथ्य को लाखों करोड़ों नर नारी नहीं जानते। कोमल, भावुक, प्रेमवती स्त्री तनिक-सी भी तो परुषता—कठोरता—को नहीं सहन कर सकती। कामावेग बेशक कठोर आघात चाहता है। कामावेग में स्त्री चरम सीमा का कठोर आघात भी सह सकती है। कहना चाहिए, उसकी कामना करती है—पर तन का ही, मन का नहीं। कामावेग से प्रथम प्रेमावेग का ज्वार आता है। कहना चाहिए, कामदेव प्रेमावेग पर ही सवार होकर आते हैं। स्त्री प्रेमावेग में अतिशय भावुक, अतिशय नाजुक हो जाती है। उसकी सम्पूर्ण चेतनाएं संवेदनशील बन जाती हैं। इसलिए वह प्रेमावेग में एक बाल बराबर की भी कठोरता-परुषता सहन नहीं कर सकती। उस समय का पुरुष-मन का तनिक-सा भी पुरुषभाव उसे विरत कर देता है।

रति प्रेम और काम दोनों ही का सार है। रति में स्त्री का विरत होना भला कैसे सहा जा सकता है। रतिकाल में विरत स्त्री तो है ही नहीं, स्त्री की लाश है। कौन पशु लाश के साथ रति कर सकता है!

इसलिए रति का प्राण भावातिरेक है। भावातिरेक से ही रति सच्चिद-समाप्त बनती है। सप्राण रति ही स्त्री को सम्पूर्ण आप्तव्य देती है और पुरुष के पौरुष को कृतकृत्य करती है।

मैं नहीं जानता कि आप मेरी बात को ठीक-ठीक समझ भी रहे हैं या नहीं। आप पति हैं या पत्नी—मैं यह नहीं जानता, पर मैं इतना कह सकता हूं कि दाम्पत्य जीवन में आप रति के समुद्र में कितनी ही बार जरूर डूब चुके हैं, पर रति का लाभ भी आपको प्राप्त हुआ है या नहीं, उस डुबकी में आपके प्राण-स्फुरण में आनन्दातिरेक का मोती मिला है या नहीं, यह मैं नहीं कह सकता। विरल ही स्त्री-पुरुषों को वह मोती मिलता है। बहुतों को सीप मिलता है और बहुतों के साथ घोंघे ही रह जाते हैं।

बहरहाल पुरुष और स्त्री के पारस्परिक सम्बन्ध में सेक्स की उपेक्षा नहीं की जा सकती। भिन्नलिंगी का परस्पर आकर्षण स्वाभाविक है। बहुधा वह आकर्षण अज्ञात रहता है। और जब वह आकर्षण किसी परस्त्री और परपुरुष के बीच अवैध रूप से होता है तो बड़ी कठिन समस्याएं आ उपस्थित होती हैं। जिनमें सबसे बड़ी रसभंग की एवं रतिनाश की समस्या है, जो इतने बड़े खतरे और दुःसाहस को ही समाप्त कर देती है।

मैं आपसे यह बात नहीं छिपाना चाहता कि मेरा शरीर-सम्बन्ध अविवाहिता लड़कियों से भी रहा। परन्तु आपको यह जानकर आश्चर्य हो सकता है कि पहल उधर से हुई। आप देखते ही हैं कि मैं कोई युवा पुरुष नहीं हूं। अपने को मैं सुन्दर कहने का भी साहस नहीं कर सकता। परन्तु मैं यह भी दृढ़तापूर्वक कह सकता हूं कि कामोदय-काल में अविवाहिता लड़कियां न सौंदर्य देखती हैं, न आयु, न प्रेम। वे देखती हैं वह प्यास जो नेत्रों में उन्हें देखते ही भड़क उठती है और जिसके मूल में निस्संदिग्ध आकर्षण होता है। मैं कबूल करता हूं कि किसी भी वय-प्राप्त सुन्दरी लड़की को देखकर मेरी आंखों में वह प्यास भड़क उठती है। और जैसे अजगर की आंखों के आकर्षण से उसका शिकार अपने आप ही आकर उसके मुंह में समा जाता है, ये लड़कियां मुझमें समा जाती रही हैं। बहुतों का मैं दुत्कारता हूं, अपमानित करता हूं, परन्तु वे

-धोकर मेरे चरणों मे गिरती हैं। यह एक नैसर्गिक आत्मर्पण है, जहां विवश हो जाती हैं, खास कर छोटी उम्र की होने के कारण। मैंने सी लड़कियों की मनोवृत्तियां देखी हैं। उनका मन न घर के काम-काज लगता है, न पढ़ने-लिखने में। वे घर के लोगों के अनुशासन को भी ही मानती। देखने में वे सर्वथा उदासीन और परवश-सी लगती हैं। नमे चपलता या विनोद की मात्रा भी नहीं होती। वे भिन्न-लिंगी की प्राप्ति के लिए भीतर से बेचैन रहती हैं। और इसके लिए उन्हें दोषी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनके रक्त के अन्दर कुछ विशेष हारमोन विशिष्ट ग्रन्थियों के निचोड़-स्वरूप मिलते रहते हैं। मैं ऐसी लड़कियों को पहचान लेता हूं। और एक ही प्यासी नज़र उन्हें मेरी गोद में ला डालती है। बहुत कम मुझे उनसे प्रेमाभिनय करना पड़ता है। बहुधा इसकी तनिक भी आवश्यकता नहीं पड़ती।

परन्तु रेखा का मामला इन सब लड़कियों से भिन्न है। वह एक विवाहिता पत्नी है। उसका पति उसकी बराबर की जोड़ी का है। वह सुन्दर और स्वस्थ है। वह उससे पूर्णतया प्रेम करता है तथा उसकी सेक्स-सम्बन्धी आवश्यकताओं की भी पूर्ति करने में समर्थ है। भिन्न-लैंगिक कोई भी कारण ऐसे नहीं हैं जो रेखा को किसी पुरुष की ओर आकर्षित करें। इसीसे मेरी नज़रों का वार उसपर खाली जाता रहा—पूरे पांच वर्षों तक। उसने मेरी ओर सेक्स-भावना से एक बार भी आंख उठाकर नहीं देखा। अपने पति की भांति ही वह अपने पति को प्यार करती थी। अपना तन-मन उसने अपने पति को सम्पूर्णरूपेण अर्पण कर दिया था। स्त्री की हैसियत से भी और पत्नी की हैसियत से भी। जहां तक सेक्स का सम्बन्ध था, वह अपने पति से सतुष्ट थी। उसमें विकार आया—रतिभाव पर। स्त्री शरीर-सहवास के साथ जिस रति-विलास की आवश्यकता का अनुभव करती है वह दत्त से उसे प्राप्त नहीं हुई। दत्त इस सम्बन्ध में अनाड़ी और असावधान व्यक्ति है। वह प्रेम को केवल मन का और सहवास को शरीर का विषय मानता है। जैसे वह प्रेम में परिपूर्ण है, वैसे ही सेक्स-पूर्ति में भी त्रुटि-रहित है। पर वह प्रेम और काम के सतुलन का ठीक न बनाए रख सका जिससे रेखा का रतिभाव भंग हो गया। उसमें विरक्ति का अंकुर

जग आया। मैंने उसे देखा और ठीक समय पर उसे रतिदान दिया और उसे जीत लिया। अब वह मेरी है।

विवाह एक आत्मिक सम्बंध है और शारीरिक भी। वैवाहिक जीवन की सार्थकता तभी है जब शारीरिक संबंध आत्मिक सम्बन्ध में परिणत हो जाए। स्त्री-पुरुष का एवं पति-पत्नी का साहचर्य तभी पूरा हो सकता है। परन्तु दत्त जैसे पढ़े-लिखे मूर्ख इस मर्म की बात को नहीं जानते। विवाह के पांच वर्ष बीत जाने पर भी रेखा और दत्त का शरीर-सम्बंध आत्मिक सम्बंध का रूप धारण न कर सका। रेखा उसके लिए छटपटाती रही और दत्त ने उधर ध्यान ही नहीं दिया। वास्तव में उसे इस महत्व की बात का ज्ञान ही नहीं है। वह अपने को एकनिष्ठ और कर्तव्यपरायण पति तो समझता है, पर उसने रेखा को अपना समर्पण तक एक बार नहीं किया। नहीं तो क्या रेखा जैसी पद्मिनी मेरे हाथ आ सकती थी? यह तो मुझे एक अलभ्य लाभ हुआ, केवल दत्त की मूर्खता के कारण। परन्तु अकेला दत्त ही ऐसा मूर्ख नहीं है। हजारों, लाखों, करोड़ों पति ऐसे ही मूर्ख होते हैं और अपनी मूल्यवान मणि को गंवा बैठते हैं।

पुरुषों ही की भांति कुछ स्त्रियां भी मूढ़ होती हैं। वे अपने प्राप्तव्य को नहीं जानतीं, और समझती हैं कि अपना शरीर पुरुष को दे देना एक तरह का अर्घ्य है। इतने में उन्हें ज़रा-सा स्पर्श-सुख भी प्राप्त हो जाता है। पर वही थोड़े ही स्त्री का प्राप्तव्य है! जैसे दूसरे गृहकृत्य पति की सुख-सुविधा के लिए उसे करने पड़ते हैं, यह भी एक काम उसके सुख के लिए कर डालती है, इसमें भी उसे उतनी ही थकान प्राप्त होती है जितनी घर के दूसरे कामों में। इसीसे उसे इस कार्य में अभिरुचि और आसक्ति नहीं रहती, और रतिभाव का उदय ही नहीं होता। ऐसी स्त्रियां शीघ्र ही सहवास को घृणित और गंदा काम समझने लगती हैं, और पति से विरत हो धार्मिक भावना-प्रधान हो जाती हैं।

परन्तु यदि स्त्री संवेदनशील है, और उसे अपने प्राप्तव्य का पूरा ज्ञान है, तब बात ही दूसरी हो जाती है। ज्यों-ज्यों उसमें अपने प्राप्तव्य के लिए अभिलाषा और लालसा जागरित होती जाती है, वह अपने पति [illegible] और विरत होती जाती है। इस स्त्री में और उस स्त्री में [illegible] न का अन्तर रहता है। पूर्वोक्त स्त्री पति से नहीं, सहवास

घृणा करती है। पर वह स्त्री सहवास से नहीं, पति से घृणा करती और किसी भी चतुर पुरुष को ऐसी स्त्री को अपनी लपेट में आने का अवसर इस तरह मिल जाता है। ऐसा का मामला सर्वथा ता ही है।

सावधान रहना चाहिए कि पत्नी कोई वेश्या नहीं है, जिससे पुरुष वल अपने सुख की प्राप्ति करे। उसका अनिवार्य कर्तव्य हो जाता कि वह स्त्री को भी उसका प्राप्तव्य सम्पूर्ण सुख दे और पहले दे। यदि ह ऐसा नहीं करता है तो उसका प्रेम चाहे जितना महान हो, उसका नी कौडी के बराबर भी मूल्य नहीं आंका जा सकता। यौन-मिलन वल शारीरिक मिलन ही नहीं है, बिना गहन मानसिक मिलन के वह भी सम्पूर्ण नहीं हो सकता। और यह शारीरिक मिलन-काल का मानसिक मिलन ही वैवाहिक जीवन की सफलता का सबसे बड़ा मूलाधार है।

जीवन एक दार्शनिक सत्य है, और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे हमारा दार्शनिक दृष्टिकोण होना चाहिए। वह दृष्टिकोण ऐसा हो जो नैसर्गिक आवश्यकताओं के व्यावहारिक रूपों को अपनाए, जिससे व्यक्ति और समाज दोनों का विकास हो।

हम समाज में प्रेम का अति वाहुल्य देखते हैं। वह प्रेम सडकों पर बिखरा हमें दीख पड़ता है। परन्तु प्रेम इतना सस्ता और सुलभ पदार्थ नहीं है। प्रेम चेतना का सबसे कोमल उद्वेग है, और उसका प्रकट स्वरूप पार्थिव है, जिसका प्रभाव जीवन के सामाजिक, धार्मिक और व्यक्तिगत विकास पर पड़ता है।

शरीर धारण के लिए हमें बहुत कष्ट झेलना पडता है। परन्तु शरीर ही से हम चरम आनंद की प्राप्ति भी प्राप्त कर सकते हैं। और क्यों न करें भला? जब हम सारे दिन कठोर परिश्रम करके मानसिक क्षोभ से क्लांत और दुश्चिन्ताओं से लदे-से घर लौटें तो क्यों न नर्म-गर्म आलिंगन का सुख प्राप्त करें? शरीर-सुख की यह लालसा कोई बुरी बात नहीं है। और मैं, मैंने तो सुख लेना नहीं, देना ही अपना ध्येय बना लिया है। यही ... संसार की सफलता की कुंजी है। इसीने मुझे ... है। एक दत्त है उसका पति जो उससे अनि-

वर्षों नीय सुख लेता रहा, पर उसे भी कुछ देना चाहिए इस सम्बंध में लापरवाह रहा। और जब उसने मुझे पाया जिसका ध्येय सुख लेना नहीं देना ही था, तो वह इस नई अनुभूति को पाकर आपे में न रह सकी। उसका सारा शील, संकोच, निष्ठा आंधी में तिनके की भांति उड़ गई, और वह समूची ही तन-मन से मुझमें समा गई।

दिलीपकुमार राय

मैं समझता हूं कि मैं तलवार की धार पर चल रहा हूं। किसी भी क्षण मुझे उन खतरों का सामना करना पड़ सकता है जो जीवन-मरण की समस्या के कठिन क्षणों में आ उपस्थित होते हैं। ये तो जीवन की टेढ़ी चालें हैं, जिनमें ठोकर खाकर गिर पड़ने की संभावना होती ही है और आज दत्त ने खतरे की घंटी बजा दी है। वह कई दिन से घुट रहा था—यह मैं प्रत्यक्ष देख रहा था। 'चोर की दाढ़ी में तिनका' वही बात है। मैं चोर तो हूं ही। मैं उसकी विवाहिता पत्नी का जार हूं। यद्यपि मैं यह बात स्वीकार करने से इन्कार करता हूं कि मैंने उसे पथ-भ्रष्ट किया। मैं प्रथम ही स्वीकार कर चुका हूं कि पहली ही दृष्टि से मैं उस पर मर मिटा था। मेरे मन में यह भावना उदय हुई थी कि वह मेरी है, मेरे लिये है। पर मैंने उसपर कभी भी यह भाव प्रकट न होने दिया; दत्त की मित्रता के नाते भी और रेखा के शील से भयभीत होकर भी। परन्तु फिर दुरभिसंधियां आईं, जब वह अपने पति के व्यवहार से असन्तुष्ट हुई, खीजी और दुःखित हुई। मैंने उसमें सहानुभूति का मार्ग अपनाया। और धीरे-धीरे चतुराई से उसकी खीज को क्रोध में और दुःख को बदला लेने की इच्छा में बदल दिया। प्रकट में मैं जहां उसकी प्रत्येक भावना से सहानुभूति रखता था वहां दत्त का भी परम हितैषी शुभ-चिंतक बनता था। पर सदैव मैंने उसके मन में दत्त के विरोधी भावों का बीज वपन किया।

दत्त उसपर अन्याय कर रहा है, वह असह्य है, अनैतिक है, अव्यवहार्य है—यही मैंने उसपर प्रकट किया। धीरे-धीरे उसके मन में दत्त के प्रति विरक्ति के भाव उत्पन्न हो गए। परन्तु यह यथेष्ट न था। उसके मन को मैं दत्त के प्रति घोर घृणा से भर देना चाहता था। उसके

हृदय में अगाध प्रेम था दत्त के लिए—अथवा किसी के भी लिए, जो उसका पति होता। वह एक शीलवती मर्यादित नारी थी। उच्चकोटि की निष्ठा उसमें थी। केवल लोभ, मोह और प्रलोभन ही से उसके मन में परपुरुष का प्रवेश हो जाए—ऐसी कमजोर और चंचल मन की स्त्री वह न थी। मुझे उसके प्यार की आवश्यकता थी—केवल उसके तन को ही मैंने नहीं चाहा, मन को भी अपनाना मैंने चाहा; और यह तब तक सम्भव नहीं था जब तक कि मैं पूर्णरूपेण उसके मन को दत्त के प्रति घृणा और विरक्ति से न भर दूं।

इसमें मुझे समय लगा। क्योंकि दत्त में केवल एक ही त्रुटि थी कि वह लापरवाह व्यक्ति था। जिसपर वह शराब का व्यसन करता था। पर वह व्यसन तो मैं भी करता हूं, परन्तु मैं सावधान पुरुष हूं। दत्त भी यदि सावधान होता तो मुझे सफलता न मिलती।

परन्तु रेखा के बदले हुए रुख पर दत्त को चिन्ता उत्पन्न हुई है, जो स्वाभाविक ही है। रेखा से वह अपना प्राप्तव्य नहीं पा रहा है, जिससे कि वह अभ्यस्त है। वह मुझपर सन्देह नहीं करता है, इसीसे उस दिन उसने मुझसे रेखा के सम्बन्ध में बातें कीं। परन्तु शायद वह मुझसे सीधी रेखा की बातचीत करने का साहस नहीं कर सका। इसलिए उसने पहले माया का प्रसंग उठाया। उसने कहा :

"तुमने कभी भी पहले माया के सम्बन्ध में कोई शिकायत नहीं की थी। माया बहुत ही अच्छी स्त्री थी—फिर क्या कारण हुआ कि उससे तुम्हारा सम्बन्ध-विच्छेद हो गया?"

मैंने पहले इस बात को हंसकर टाल देना चाहा। पर वह खोद-खोद-पूछता रहा। मैंने कहा :

"बड़ी विचित्र और छबीली वस्तु है यह विवाह, जहां मनुष्य प्रेम करने और आत्मसमर्पण करने को विवश हो जाता है। विवाह का अर्थ ही है एक असाधारण सम्बन्ध। हिन्दू-धर्मग्रन्थों में व रूढ़ अर्थों में विवाह का अर्थ है—स्त्री-पुरुष का जन्म-जन्मांतरों के लिए एक-दूसरे से अटूट सम्बन्ध।"

जन्म-जन्मान्तरों की बात सुनकर दत्त को हंसी आ गई। पर यह वह चिरप्रसिद्ध हंसी न थी जिसमें ठहाकों के साथ आनन्द

बिखरता था। यह तो एक रूखी-सूखी हंसी थी। उसने हंसकर कहा, "जन्म-जन्मांतर की बात पीछे छोड़ो राय, इसी जन्म में निभाव हो जाए तो गनीमत है।"

मेरे कुछ कहने के प्रथम ही उसने कुछ गम्भीर होकर कहा, "माया ही की बात ले लो। वह न कोई नई-नवेली स्त्री है, न बेसमझ है। बड़ी सम्यशिष्ट औरत है वह; पर उसे हो क्या गया, जो वह इस तरह चली गई ?"

"इसका मैं इसके अतिरिक्त और क्या कारण बता सकता हूं कि वह आधुनिका है—पुरानी हिन्दू-परम्परा को नहीं मानती।"

"पुरानी हिन्दू-परम्परा क्या ?"

"मैंने कहा न कि हिन्दू-धर्मानुशासन की दृष्टि से स्त्री एक बार विवाहित होकर जीवन-भर पति से विच्छेद नहीं कर सकती। यही नहीं, वह पति के मरने पर भी उसकी विधवा रहेगी, और यह विश्वास रखेगी कि जब उसकी मृत्यु होगी तो स्वर्ग या पतिलोक में उसे वही पति मिलेगा, जन्म-जन्मान्तरों से वही उसका पति होता आया है।"

इस बार दत्त को हंसी नहीं आई। उसने तनिक गम्भीर होकर कहा, "तुम भी क्या इस झूठी बात पर विश्वास करते हो राय ?"

मैंने हंसकर कहा, "मैं तो स्त्री हूं नहीं, इसलिए मेरे विश्वास-अविश्वास करने से क्या होता है भला ? पर यह बात मैं जरूर कहूंगा कि स्त्री को यदि ऐसा ही विश्वास रहे तो मैं उसे पसन्द करूंगा।"

"क्यों पसन्द करोगे तुम इस झूठी बात को ?"

"झूठी-सच्ची बात से हमें क्या मतलब है। हमें तो वही बात पसंद आती है जो हमारे लाभ की होती है। मैं तो इस विश्वास की अगली किस्त को भी पसन्द करता हूं।"

"अगली किस्त कौन-सी ?"

"यह कि विवाह के बाद हिन्दू पति का स्त्री पर एकान्त स्वामित्व हो जाता है। और पति मृत हो या जीवित, स्त्री वाग्दत्त हो या विवाहिता, हर हालत में उसे मन, वचन, कर्म से उसी पति के सर्वथा अनुबन्धित, अनुप्राणित और आत्मार्पित रहना पड़ेगा।"

"और पति ? क्या पति पत्नी के प्रति अनुबन्धित नहीं होगा ?"

"जी नहीं, हिन्दूधर्म पति को स्त्री के प्रति अनुबन्धित नहीं करता। हिन्दू-धर्मानुबन्धन में पति एक या अनेक इसी प्रकार से पूर्णानुबन्धित पत्नियां रखते हुए भी सर्वथा स्वतन्त्र रूप से अन्य वैध या अवैध अनगिनत पत्नियां बिना पत्नी की स्वीकृति के रख सकता है। यहां तक कि वह वेश्या और व्यभिचारिणी स्त्रियों से भी मुक्त सहवास कर सकता है।"

"वाहियात बात है! आजकल की स्त्रियां भला यह सब स्वीकार कर सकती हैं? और अब तो कानून भी ऐसे बन गए हैं कि स्त्रियों पर कोई ऐसा दबाव नहीं डाला जा सकता। और वे जब चाहें तभी विच्छेद कर सकती हैं।"

"तो बस, बस कानून की ही करामात से माया ने तलाक दे दिया और चली गई।"

"लेकिन बाईस वर्ष के दाम्पत्य को भंग करके?"

"बीस बरस की जवान कुमारी लड़की को भी छोड़कर। कैसा चमत्कार रहा मिस्टर दत्त, कि बेटी ने मां का विवाह अपनी आंखों से देखा!"

"लेकिन क्या तुम कह सकते हो—इस मामले में तुम निर्दोष हो?"

"दोष-निर्दोष की भी अलग-अलग व्याख्या है। दोष या अपराध जैसा हलका-भारी होता है—दण्ड भी वैसा ही होता है। उगली उठाने के अपराध में फांसी नहीं दी जाती।"

दत्त उस समय शायद अपने दुःख से दुःखित थे, इसलिए उन्होंने मेरे इन शब्दों से मेरे मनस्ताप को देख लिया। उन्होंने सहानुभूति के स्वर में कहा :

"तुमने यदि मुझसे कहा होता तो शायद मैं तुम्हारी सहायता करता—उन्हें समझाता-बुझाता।"

"यह सब काम तो मैंने भी किया।"

"तो क्या कुछ ऐसे गम्भीर कारण आ उपस्थित हुए कि तुम्हें सफलता नहीं मिली?"

अब मैं क्या जवाब देता। मैंने कहा, "मिस्टर दत्त, बहुत-सी बातें हैं जो कही नहीं जा सकतीं। बूंद-बूंद तालाब भरता है, जरा-जरा-सी प्रतिकूल बातें बहुत बड़ी बन जाती हैं। आरम्भ में कोमल कल्पनाओं

और भावुक प्रवृत्तियों को पूंजी बनाकर स्त्री-पुरुष में प्रेम-व्यापार चलता है। पर बहुधा उन कल्पनाओं और प्रवृत्तियों के तार बीच ही में टूट जाते हैं तो वह प्रेम का लेन-देन ही केवल मन्द नहीं हो जाता, विरक्ति और घृणा की बौछारों को भी सहन करना पड़ता है; और उनसे घबराकर स्त्री-पुरुष में जो साहसी होता है वह भाग खड़ा होता है, जो कम साहसी होता है वह मर मिटता है। और सच तो यह है कि प्रेम का जीवन बड़ा जटिल है। सम्भव है, पत्थर-युग में जब सभ्यता का प्रारंभ था प्रेम सरल रहा हो, पर अब सभ्यता के विकास ने इसे जटिल बना दिया है। और अब मनुष्य भावनाओं से उसके भार को सहन नहीं कर सकता।"

"क्या तुम समझते हो राय, कि स्त्रियों की इतनी स्वाधीनता समाज के लिए हितकर है ? मैं पुराने युग की रूढ़ि का समर्थन नहीं करता, पर साधारण कारण से पति-पत्नी का विच्छेद क्या उचित है ? फिर यह भी तो सम्भव है कि जो कुछ समझा गया है वह भ्रमपूर्ण भी हो सकता है।"

"बहुधा होता भी तो ऐसा ही है। परन्तु आज की स्त्री को हम बांधकर नहीं रख सकते।"

"परन्तु इस तरह तो जीवन ही अस्त-व्यस्त हो जाएगा, समाज की एकनिष्ठता खत्म हो जाएगी।"

"हो जाए, पर व्यक्ति-स्वातन्त्र्य सबसे बड़ी वस्तु है। यह आज के युग की सबसे बड़ी मांग है।"

"क्या तुम कह सकते हो राय, कि स्त्री किस बात से खुश हो सकती है ? तुम तो बाईस वर्ष के तजुर्बेकार आदमी हो ?" उसने फिर उसी प्रकार फीकी हंसी हंसकर कहा।

मैंने कहा, "इसका तो कोई एक नियम नहीं प्रतीत होता, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्री-पुरुष की एकता के बीच शरीर की अपेक्षा मन की महत्ता अधिक है। मानसिक क्षोभ उनकी एकान्त एकता में बाधक है। शिक्षा से मानसिक स्तर अब स्त्री-पुरुष दोनों ही का ऊपर उठ गया है। इसलिए मनोविकार और मनस्तुष्टि शरीर-तुष्टि से अधिक महत्त्व रखने लगी है।"

"शायद असभ्य युग में ऐसा न था।"

"शायद न था, शायद था—कुछ ठीक नहीं कह सकता, पर एक बात कह सकता हूं कि कुछ बातें हैं जो स्त्री-पुरुष दोनों को एक-दूसरे के प्रति आकर्षित करती हैं। इनमें मानसिक कोमलता और आत्मार्पण की भावना सर्वोपरि है।"

"फिर भी कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती। बहुत स्त्रियां अयोग्य, निर्दय, दुराचारी पतियों से भी प्रसन्न और सन्तुष्ट रहती हैं। बहुत सद्गुणों को पसन्द करती हैं। बहुतों को आदर्श भी प्रिय नहीं होता। पर कुछ पुरुष चमत्कारिक होते हैं, जो झट स्त्रियों के प्रिय बन जाते हैं। उन पुरुषों की मूर्खतापूर्ण चेष्टा पर भी स्त्रियां प्रसन्न हो उठती हैं।"

"क्या तुम प्रेम के सम्बन्ध में कुछ अधिक जानते हो राय?"

मुझे दत्त के इस प्रश्न पर अनायास ही हंसी आ गई। यह एक विद्वान, स्वस्थ, तरुण पति का प्रश्न था। मैंने कहा:

"क्यों? आपने क्या कोई अच्छी फिल्म आजकल नहीं देखी है? प्रेम की बहुत-सी अच्छी जानकारी उनमें होती है।"

"नहीं, नहीं, मज़ाक की बात नहीं। सचमुच ही मैं तुमसे पूछता हूं कि क्या स्त्रियां प्रेम से भी खुश नहीं होतीं?"

"लेकिन आप मेरा उत्तर सुनकर मुझे बेवकूफ बनाएंगे!"

"नहीं, नहीं, तुम कहो भी तो।"

"खैर, तो सुनिए, पाशविक प्रवृत्ति ही प्रेम है।"

"पाशविक प्रवृत्ति से प्रेम का क्या सम्बन्ध है?"

"बस समझ लीजिए, दोनों एक ही हैं। खास कर औरत के सामने में।"

"अरे भाई, तुम तो पहेलियां बुझाने लगे। साफ बात क्यों नहीं कहते!"

"आप साफ ही सुनना चाहते हैं तो सुनिए। स्त्रियां कोरे भावुक ` पसन्द नहीं करतीं। वे तो उसी प्रेम को पसन्द करती हैं जिसमें `र भीषण आक्रमण छिपा हो।"

सुनकर दत्त चुप हो गया। वह किसी गम्भीर चिन्ता में

डूब गया। मेरा हृदय धड़कने लगा। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि अब कोई वज्रपात मेरे ऊपर होने वाला है। परन्तु उसने शांत-संयत स्वर में कहा, "क्या सचमुच औरतें इस कदर कामुक होती हैं?"

"क्या आपने सुना नहीं, औरत में पुरुष से आठ गुनी काम की भूख होती है?"

"हां, सुना तो है। पर अपने आठ बरस के वैवाहिक जीवन मे मैंने यह बात प्रत्यक्ष नहीं देखी। पर तुम शायद ठीक कहते हो, क्योंकि तुम्हारा अनुभव बाईस बरस का है। लेकिन राय, यदि माया के चले जाने का यही कारण था तो तुमने अपने इलाज कराने में क्यों लापरवाही की?"

मेरा मुंह शर्म से लाल हो गया, और मुझसे इसका जवाब देते न बना। यद्यपि यह एक आकस्मिक और सहज सहानुभूति का ही प्रश्न था, पर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे दत्त ने मेरे मुंह पर एक करारा तमाचा मारा हो। मैं अभी कुछ जवाब सोच ही रहा था कि दत्त ने कहा, "राय, तुम्हारी यह व्याख्या गलत भी हो सकती है।"

मेरा मन हो रहा था कि मैं अब यहां से भाग चलूं। न जाने प्रश्नोत्तर कौन-सा रुख पकड़े और मैं सन्देह का पात्र बन जाऊं। यह स्पष्ट था कि इस समय दत्त की नजर मे रेखा का विपरीत उदासीन आचरण थिरक रहा था और उसी भाव-प्राबल्य मे प्रश्न कर रहा था। अब मैंने भी गम्भीर स्वर मे कहा, "हो सकता है कि मेरी यह प्रेम-व्याख्या गलत हो, क्योंकि अन्तत: मैं एक विफल पति हूं।" दत्त ने एक गहरी सांस ली और कहा, "राय, ऐसा प्रतीत होता है कि सभी पति विफल पति होते हैं। किसी स्त्री का पति होना एक घाटे का सौदा ही है।"

इतना कहकर वह उठ खड़ा हुआ। उसने अपनी सहानुभूति से मेरा हाथ पकड़कर कहा, "भाई राय, विश्वास करो, तुम्हारे लिए मैं बहुत दुःखित हूं। समझ रहा हूं कि तुमने माया के वियोग को सहन करने में अपरिसीम धैर्य का परिचय दिया है। मैं अपनी कह सकता हूं कि कहीं यदि मुझे रेखा को इस तरह खोना पड़ जाए तो मैं जिन्दा न रह सकूंगा।" उसने मुझे नमस्कार कहा। मैंने कुछ जवाब न देने ही मे कुशल समझी और प्रतिनमस्कार करके चला आया।

सुनीलदत्त

बड़ी भयानक बात कही राय ने कि पाशविक प्रवृत्ति ही प्रेम है। परन्तु यह कैसे माना जा सकता है ? राय ने इसकी व्याख्या भी की। उनने कहा—स्त्रियां उसी प्रेम को पसन्द करती हैं जिसमें काम-वासना का भीषण आक्रमण निहित हो। परन्तु मैं इस बात की तह में जाना चाहता हूं। स्त्री-पुरुष का पारस्परिक सम्बन्ध पहले प्रेम का सम्बन्ध होता है, या काम का सम्बन्ध ? निस्सन्देह प्रेम का सम्बन्ध होता है। परन्तु उनमें काम-वासना नहीं छिपी रहती है, यह नहीं कहा जा सकता। रेखा को जब मैंने विवाह से पूर्व देखा तो मन में कैसी एक गर्मी उत्पन्न हुई जैसे ज्वर चढ़ आया हो ! कितनी रातों तक मैंने उसकी कल्पना-मूर्ति का ध्यान किया ! उस ध्यान में कितना प्रेम था और कितना काम, यह मैं नहीं कह सकता, अथवा मुझे कहना चाहिए, काम ही अधिक था।

प्रेम तो देना है। जो जितना अधिक देता है वह उतना ही अधिक प्रेमी है। परन्तु काम तो एक वासना है, वह लेने की प्रबल भूख लिए आता है। कबूल करता हूं कि जब-जब मैंने रेखा का ध्यान किया तो मन में यही हुआ कि उसे मैं प्राप्त कर लूं, आत्मसात् कर लूं, अपने में समेट लूं। यह देना कहा हुआ ! लेना ही तो हुआ। इसलिए वह काम ही था, प्रेम नहीं। राय ने ठीक कहा—प्रेम एक पाशविक प्रवृत्ति है। क्या रेखा की स्मृति से मेरे मन में पाशविक उत्तेजना नहीं पैदा हुई ? पाशविक प्रवृत्तियों ने मुझे नहीं झकझोर डाला ?

इसके बाद जब मैंने रेखा को प्राप्त कर लिया, उसका तन भी, मन भी मेरा हो गया—तब क्या प्रेम प्रबल था ? न, न, प्रेम नहीं काम प्रबल था। प्रेम तो उसका वाहन था। कामदेव साक्षात् प्रेम पर सवार हो गर्व-ाता था। और कामदेव जब तक अपना लक्ष्य-प्राप्त रेखा के स्त्रीत्व

से न प्राप्त कर ले तब तक उसे विवश किए रहता था। और बड़ा अद्भुत था यह प्रेम और काम का संयुक्त मोर्चा।

पर तब मैंने इसका महत्त्व समझा ही न था। कहना चाहिए, समझने का मुझे होश था न अवकाश। मैं तो सचमुच एक आक्रान्ता था। सच है, सच है, भिन्नलिंगी का यह स्वभाव है। वह भिन्नलिंगी का विरोधी अस्तित्व है। और उसका सम्मिलन दो पर्वतों के टकरा जाने के समान दुर्घर्ष है। *उस समय मैंने यह भीषण सत्य नहीं समझा था।* आज समझ रहा हूं।

परन्तु वह पाशविक प्रवृत्ति अब सो क्यों गई? क्या प्रेम का रस सूख गया? अपनी बात तो मैं कह सकता हूं। मेरे हृदय में प्रेम का समुद्र उमड़ रहा है—केवल रेखा के लिए। परन्तु उस प्रेम में वह पाशविक प्रवृत्ति क्यों नहीं रही है? रेखा को देखकर, छूकर अब शरीर में फुरहरी क्यों नहीं आती है? खून गर्म क्यों नहीं होता है? आक्रमण करने का आवेश क्यों नहीं उत्पन्न हो जाता है? और यदि कभी-कभार होता भी है, तो रेखा प्रत्याक्रमण क्यों नहीं करती? वह तो मिट्टी हो गई है। भला इकतरफा लड़ाई भी कहीं होती है! बिल्ली जीवित चूहे पर ही *तो झपट्टा मारती है। शेर छलांगें मारते हिरन ही पर तो उछाल भरता है।* शिकार की छटपटाहट ही तो शिकार की जान है। कहीं मुर्दे का भी शिकार किया जाता है?

रेखा का शरीर जी रहा है। पर उसका नारी-भाव मर चुका है, या सो रहा है, या क्या हो गया है, यह मैं नहीं जान पाता। पहले ही कह चुका हूं कि वह बीमार नहीं है। कितनी बार मन में शंका उठती है कि कहीं वह बेवफा तो नहीं है? भला रेखा जैसी स्त्री भी कहीं बेवफा हो सकती है? नहीं, नहीं, नहीं हो सकती। फिर उसे ऐसे अवसर कहां मिलते हैं! बस राय से उसकी घनिष्ठता है। पर राय पर उसकी भला *क्या आसक्ति हो सकती है! अथवा दुनिया में सब कुछ हो सकता है!* हे भगवान! यह मैं क्या सोचने लगा! छि:, छि:! मगर सब बातों पर विचार करने में क्या हर्ज है! राय तो बहुत दिन से हमारे घर आता है—रेखा के ब्याह के प्रथम से ही। जब मेरा ब्याह नहीं हुआ था, मैं उसके घर जाता था। माया मुझसे खुलकर मिलती, हंसती, बोलती थी।

न मेरे मन में कुछ विकार उत्पन्न हुआ न उसके। हम दोनों शुद्ध मित्र-भाव से रहते रहे। उसी प्रकार अब राय मेरे यहां रेखा से मिलता है, हंसता-बोलता है। आज के युग में भला औरत को कहीं बांधकर रखा जा सकता है? फिर रेखा जैसी पत्नी पर मैं अविश्वास करूं, या राय जैसे मित्र पर सदेह करूं, तो क्या यह उचित होगा?

फिर भी एक बात मैं देखता हूं। अब रेखा राय से भी तो पहले की भांति नहीं मिलती, हंसती, बोलती। उसके आने पर या तो चुपचाप कोई बुनाई या पुस्तक लेकर बैठ जाती है, या टल जाती है। और राय भी अब उससे बात नहीं करता। क्या उसकी राय से भी खटक गई है? परन्तु ऐसी कोई बात मुझे तो मालूम नहीं। वह रेखा आ रही है। मैं रेखा ही से पूछता हूं। मन ही मन कुढ़ने से क्या लाभ?

"बैठो रेखा, बैठो, कितनी सुन्दर सन्ध्या है! मैं सोच रहा हूं, राय आ जाए तो चलकर कोई अच्छी-सी पिक्चर देखी जाए। कुछ मालूम है तुम्हें, आजकल कोई अच्छी पिक्चर कहीं लगी है?"

"मुझे तो नहीं मालूम।"

"लेकिन राय को जरूर मालूम होगा। वह कोई अच्छी पिक्चर छोड़ता नहीं है। न हो, चलो, उसे उसके घर से लेते चलें।"

"उनको साथ लेना कोई जरूरी है?"

"नहीं, यह बात नहीं। माया चली गई, बेचारा दुःखी रहता है।"

"उनके दुःख से तुम विशेष दुःखी प्रतीत होते हो।"

"दुःख की बात ही है। फर्ज करो तुम्हीं मुझे छोड़कर चली जाओ तो मैं क्या करूंगा, जानती हो?"

"क्या करोगे?"

"प्रान दे दूंगा। गोली मार लूंगा।"

"राय ने तो गोली नहीं मारी, जान नहीं दी।"

"बड़ा सख्तजान है राय। पर मैं तुम्हारे बिना न रह सकूंगा रेखा!"

"राय भी, सम्भव है, माया से ऐसा ही कहते रहे हों!"

"लेकिन मैं तो तुम्हें बहुत प्यार करता हूं रेखा।"

"राय शायद माया को प्यार नहीं करते थे!"

"शायद नहीं करते थे।"

"तो बाईस बरस तक क्या करते रहे ? दोनों का संसार कैसे चलता रहा ? बिना प्यार के भी कहीं औरत-मर्द रह सकते हैं ?"

"नहीं रह सकते रेखा, इन दिनों मैं इस बात को खास तौर पर देख रहा हूं।"

"इन दिनों क्यों ?"

"पता नहीं, तुम्हें क्या हो गया है। गुमसुम रहती हो। पहले की तरह हंसते हुए तुम्हारे होंठ फड़कते नहीं। तुम्हारे गालों में गड्ढे पड़ते नहीं। आंखों में चमक आती नहीं। जब पास आती हो तो पास आते-आते रह जाती हो। तुम्हें देखकर मेरा दिल उछलता है, पर जैसे कोई उसे दबोच डालता है। क्या तुम इन सब परिवर्तनों को नहीं देखती हो ?"

"नहीं, मैं तो नहीं देखती।"

"तो तुम कहना चाहती हो, तुम वही हो जो पहले थीं, जब ब्याह कर आई थीं ?"

"तुम क्या समझते हो, मैं बदल गई हूं ?"

"जरूर बदल गई हो, वरना इतनी बातचीत होने पर भी तुम यहीं खड़ी रहतीं ? मेरे गले से न झूल जातीं ? तीन दर्जन चुम्बन तड़ातड़ अंकित न कर देतीं ?"

"तुम समझते हो, मैं वही ब्याह की नवेली बनी रहूं ?"

"न न, मैं चाहता हूं तुम *आज की मेरी प्राणप्रिया पत्नी बनो*। मैंने तुम्हें जो ब्याह के बाद लेना सिखाया है उसे अधिक से अधिक लो। कितना प्यार, कितना सुख अंजलि में लिए मैं प्रतीक्षा कर रहा हूं। कहता हूं : लो—लो—लो। लेकिन तुम हो कि आंख उठाकर देखतीं तक नहीं। क्या इतने ही में तुम्हारी मुझसे तृप्ति हो गई ? कहां गई तुम्हारी वह आकुल-व्याकुल-आतुर मूर्ति, उन्मुख प्यार को थिरकती हुई गुड़िया ? हंसी के फूल बखेरती हुई, नजर के तीर चलाती हुई, शरीर की सुषमा फैलाती हुई जो तुम आती थीं—वह तुम अब कहां हो ?"

"मैं तो वही हूं। तुम्हारी समझ का फेर है।"

"ओफ, कितना ठण्डा जवाब है ! मेरी प्यारी रेखा, मेरे पास

आओ, मेरी गोद में बैठो। मेरे कान में मुस्कान मुस्कराती झनकार कर कहो "तुम्हें क्या चाहिए ? मैं तुम्हारे लिए क्या करूँ ?...तुम्हें क्या हुआ है ?"

"मुझे कुछ भी दुःख नहीं है।"

"वैसे ही टक्सा जवाब। रेखा, मेरा कोई अपराध हो तो बताओ, मैं तुमसे क्षमा माँगूं।"

"तुम नाहक ही बात का बतंगड़ बना रहे हो।"

"तो बताओ क्या बात है ?"

"कुछ बात हो तो कहूँ।"

"अच्छा, मेरी बात छोड़ो, आजकल तुम रात में भी कटी-कटी रहती हो।"

"तो क्या करूँ मैं ?"

"पहले जैसे हँसती-बोलती थी, वैसे ही हँसो-बोलो।"

"हँसी आएगी तो हँसूँगी। कोई बात होगी तो बोलूँगी।"

"पहले तो बात-बात पर हँसी आती थी, बात-बात में बात निकलती थी।"

"तो अब नहीं निकलती तो क्या करूँ ? जबर्दस्ती हँसूँ ?"

"नहीं, जबर्दस्ती की जरूरत नहीं है रेखा। जब हँसी आए तभी हँसना चाहिए।"

न जाने कहाँ से एक अवसाद का संवेग सागर उमड़ आया और मैं उसमें डूब गया। रेखा ने कहा, "पिक्चर देखने जाते थे, जाओ देख आओ। तबियत बहल जाएगी।"

"नहीं, अब सोऊँगा। सिर में दर्द है।"

"तो सो रहो।" इतना कहकर रेखा चली गई, और मुझे ऐसा लगा कि कोई नस कट गई है और सारे शरीर का खून निकल गया है।

लीलावती

मिसेज दत्त अब रोज-रोज ही यहां आने लगी हैं। यह मुझे अच्छा नहीं लगता। मेरे साथ वे बहुत प्यार दिखाती हैं। उनकी मीठी बातें, सुनहरी मुस्कान और सुन्दर शरीर मुझे बहुत भाता है। परन्तु न जाने क्यों उससे मुझे आनंद नहीं आता। उनके आने पर मुझे एक प्रकार की खुशी होती है, फिर भी मन में मैला-मैला-सा कुछ लगता है। पापा अब समय से पहले आफिस से चले आते हैं। उनका कहना है कि उनकी तबियत खराब रहने लगी है, इसी से। पर मैं जानती हूं, यह सब बहाना है—कोरा बहाना। वे मिसेज दत्त से मिलने के लिए ही आते हैं। पहले मिसेज दत्त मुझसे खूब बात करती थी, प्यार जताती थी, पर अब तो वे मेरी तरफ देखकर मुस्कराती हुई सीधी ऊपर पापा के शयनगृह में चली जाती हैं। बहुधा पापा उनसे पहले ही घर आ जाते हैं, पर कभी ऐसा भी होता है कि वे नहीं आ पाते तो भी मिसेज दत्त सीधी ऊपर चली जाती हैं। मेरे पास बैठती नहीं, बातें भी नहीं करती। न जाने क्यों, उनका इस तरह मुझे देखकर मुस्कराना और चुपचाप ऊपर चला जाना मुझे अच्छा नहीं लगता। अब तो जैसे मेरा मन भी उनसे बात करने को नहीं करता। जब वे मुस्कराकर मेरी ओर देखती हैं तो मुझे मालूम होता है कि वे मुझसे प्रश्न कर रही हैं कि क्या पापा ऊपर हैं, और मैं कठपुतली की भांति संकेत से ही कह देती हूं कि हैं, चली जाओ। और वे जल्दी-जल्दी कदम उठाकर चली जाती हैं। चाहता हूं कि मेरा-उनका सामना न हो। वे भी शायद यही चाहती हैं। इसीसे मैं जब उनके आने का वक्त होता है तो टल जाती हूं—या तो अपने पढ़ने के कमरे में दरवाजा भीतर से बंद करके बैठ जाती हूं, या किसी सहेली के यहां चली जाती हूं। सिर्फ शोफर रह जाता है। वह उन्हें मेम साहब

ही रहने देते हैं। ममी भी तो मुझे नहीं छोड़तीं। कभी-कभी तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है, वही मेरा घर है। वहां से आने को मन ही नहीं करता। वहां से लौटकर यहां बहुत सूना-सूना लगता है। और फिर ममी के पास जाने को मन होता है। मन को रोकती हूं। बहुत रोकती हूं। तब रोने लगती हूं और फिर चली जाती हूं।

सचमुच वही तो असली ममी हैं। हमारे घर से चली गई हैं तो क्या हुआ! लेकिन ये मिसेज दत्त भला ममी कैसे बन सकती हैं! वह प्यार इनमें कहां है! नहीं, नहीं, ये ममी नहीं हैं।

मैंने ममी से मिसेज दत्त के यहां आने-जाने की बात भी कह दी है। वे आती हैं। सीधी पापा के शयनागार में चली जाती हैं। मुझसे बात तक नहीं करती हैं, यह भी कह दी है। उनकी आंखों में मुझे यही भासता है कि उनके आने के समय मैं घर में न रहूं तो ही अच्छा है, यह भी मैंने कह दी है। ममी सुनकर चुप हो जाती हैं। उनकी नजर में कैसा कुछ दर्द भर जाता है, देख नहीं सकती मैं। और कभी-कभी पूछ बैठती हूं—ममी, इन बातों का आखिर नतीजा क्या होगा? मैंने एक-दो बार ममी से पूछा—क्या मैं उनसे कह दूं कि वे मेरे घर न आया करें? या पापा ही से कह दूं कि उन्हें न बुलाया करें—तो ममी ने मना कर दिया। एक बार तो यह भी उन्होंने कहा कि मैं वहीं उनके पास आ रहूं।। मेरा मन तो यह चाहता है, पर पापा को छोड़कर कैसे रह सकती हूं! फिर वह तो मेरा घर है नहीं।

उस दिन न जाने क्यों ममी अपना गुस्सा न रोक सकीं। यों वे, जब मैं उनके पास जाती हूं, गुस्सा नहीं होतीं हैं। पर उस दिन जब मैंने उनसे तमाम दिन पापा के शयनागार में रहने की बात कही, तो…तो वे तिलमिला उठीं। उनके चेहरे पर ऐसा एक कठोर भाव आ गया जैसा मैंने पहले कभी नहीं देखा था। और जब मैं चलने लगी तो उन्होंने कहा, "बेबी, मेरा एक काम कर दोगी बेटी?"

मैंने कहा, "कहो मां।"

जब मैं बहुत खुश होती हूं तो ममी को मां कहती हूं। मैंने कहा, "कहो मां।"

उन्होंने मुझे अपने सीने में छिपा लिया कि मैं उनके आंसू न देख

गई और कहा, "बेटी, मेरा एक फोटो बड़ी मौसी के कमरे में टंगा हुआ है, मुझे ला दे।" और मैंने वह फोटो उन्हें ला दिया।

पापा ने मुझसे पूछा, 'वह फोटो क्या हुआ?' तो मैंने बता दिया कि मम्मी ने मांगा था, दे आई हूं।

पापा कुछ बोले नहीं, चुपचाप चले गए। शायद नाराज हो गए। पापा भी तो मुझसे कम बात करते हैं। वे चाहते हैं कि जब मिसेज दत्त आएं तो मैं घर में न रहूं। मैं भी हकीकत में यही चाहती हूं। पहले मम्मी जब यहां थीं तो उन्होंने चाहा था कि मैं होस्टल में जा रहूं, और मैंने इन्कार कर दिया था; पर अब तो मैं स्वयं चाहती हूं। असल बात यह है कि मैं न तो मिसेज दत्त का पापा के शयनागार पर इस तरह दखल जमाना देख सकती हूं, न रोज-रोज उनका आना बर्दाश्त कर सकती हूं।

मैं मन ही मन घुटती रहती हूं। इससे मेरी स्टडी में भी हर्ज होता है। मम्मी से जब-जब मिसेज दत्त की बात मैंने कही, तब-तब वे चुप रहीं अच्छा-बुरा कुछ नहीं कहा। पर मैं जानती हूं कि यदि मैं मिसेज दत्त को अपमानित करूं तो मम्मी खुश होंगी। बहुत खराब औरत हैं मिसेज दत्त।

काम-विज्ञान की कुछ पुस्तकें खरीद लाया हूं। उनका अध्ययन कर रहा हू। राय ने जो यह बात कही है कि स्त्रियां उसी प्रेम के वशीभूत होती हैं जिसमें कामावेग का भीषण पाशविक आक्रमण निहित होता है, इसी-से मैं इस विचित्र विषय का सांगोपांग अध्ययन करूंगा। जब यह विषय जीवन के सुख-दुःख के इतने निकट है, तो यह कालेजों मे क्यों नही पढ़ाया जाता ! इसपर तो डाक्टरेट करना चाहिए। बड़ा विचित्र है यह विषय। काम-विज्ञान स्त्रियों की और पुरुषों की अलग-अलग जातियां बयान करता है। ये जातियां सामाजिक स्तर पर नहीं होतीं—उन और मन की भिन्नता के आधार पर होती हैं। पतली-दुबली, लम्बे शरीर की फुर्तीली स्त्री, जिसकी उंगलियां और मध्य शरीर भी लम्बा हो, जो लाल फूल और लाल रंग के वस्त्र पसन्द करे, क्रोधी हो, शरीर पर नीली नसें चमकती हों, शरीर के नीचे का भाग लम्बा हो, स्मर-मन्दिर पर गहन रोमावली हो, रतिजल क्षारगन्धि हो, शीघ्र तृप्त होनेवाली हो, शरीर गर्म रहता हो, न कम न अत्यधिक खाती हो, पित्त प्रकृति की हो, चुगलखोरी की आदत हो, मलिनचित्त हो, स्वर गधे के समान हो—वह स्त्री शंखिनी है। मेरी रेखा शंखिनी है, न हस्तिनी है। हस्तिनी स्त्री बदन में भारी, चाल में भद्दी, कद में ऊंची होती है। चेहरा व उंगलियां उसकी मोटी होती हैं, गर्दन छोटी और मोटी होती है। बाल भूरे होते हैं, स्वभाव की कटु होती है, शरीर से हाथी की मद-गन्ध आती है। होंठ बहुत मोटे, नीचे का होठ लटका हुआ, क्रोधी, कटुभाषिणी, कठिनाई से तृप्त होनी है। भला मेरी रेखा ऐसी कहां है !

एक स्त्री चित्रणी होती है—चाल उसकी मन को लुभाती है, कद मध्यम होता है। जघनस्थल विशाल और शरीर दुबला-पतला होता है।

होठ भरे हुए, काक जंघा, तीन रेखाओं वाला कण्ठ, चकोर के समान कंठ-स्वर, ललित कलाओं में रुचि, रोम कम, चंचल स्वभाव, चपल दृष्टि, बनाव-शृङ्गार में रुचि। यह चित्रणी के लक्षण हैं। ऐसा चित्रणी भी नहीं है। वह पद्मिनी है। पद्मिनी के लक्षण उसमें मिलते हैं। पद्मिनी स्त्री कमल के समान कोमलांगी, शरीर और रतिजल में दिव्यगन्ध, चकित हरिणी के समान आंखें, नेत्रों के किनारे लाल, श्रीफल-से गोल उरोज, तिल के फूल समान नासिका, श्रद्धावती, सलज्जा, कमल पुष्प के समान सुन्दर कान्तिवाली, चम्पकवर्णी, छरहरे शरीरवाली, जिसकी चाल राजहंसिनी की भांति हो, जिसके उदर में त्रिवली पड़ती हो, कलहंस के समान जिसकी वाणी मधुर हो, तन-मन से पवित्र, साफ-शुद्ध रहनेवाली, मानिनी लज्जावती, अल्पभाषिणी, श्वेत रंग के फूलों को पसन्द करने वाली स्त्री पद्मिनी जाति की स्त्री है।

कहा है, कामदेव के पांच बाण हैं—अकार, इकार, उकार, एकार, ओकार। क्रमशः इनके लक्ष्य हैं—हृदय, कुच, नयन, मस्तक और गुह्यस्थान। इन मर्मस्थानों पर नवनवल धनुष को तानकर दृष्टिरूप बाणनिक्षेप करने से स्त्री वशीभूत हो जाती है। प्रतिकूल स्त्री को अनुकूल करना, अनुकूल स्त्री को प्रेमी-अनुरागिनी बनाना और अनुरागिनी-अनुरक्ता से रति-आनन्द की प्राप्ति करना—यही कामशास्त्र का मूल विषय है। ऊंचे ताल पर से गिरती हुई निर्झर की तरल जलधारा के समान इस प्रवाही संसार में सार पदार्थ कामानन्द है, और सम्पूर्ण शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि वासना-समूह उसके अधीन हैं। ब्रह्मानन्द के समान उस महान आनन्द को कोई मन्दबुद्धि, सूक्ष्म काम-कलाओं की विचित्रता को न जानने वाला कोई मूर्ख किस प्रकार प्राप्त कर सकता है!

मैंने स्त्रियों की जाति की चर्चा की है। प्रत्येक जाति की स्त्री का पृथक् स्वभाव होता है। परन्तु आयु की दृष्टि से बाला, तरुणी, प्रौढ़ा के भिन्न-भिन्न गुण होते हैं, फिर काम-प्रवृत्ति के भाव हैं, लीला-कलाएं आदि इंगित हैं। इन सबको न जानने वाला रतिविद्या में मूढ़ पुरुष
के यौवन को प्राप्त करके भी प्राप्त नहीं कर पाता है। अब
ने प्राप्त करके भी प्राप्त नहीं किया है। मैं रतिकला में मूढ़

है।

हिन्दू-धर्मशास्त्र, दयानन्द, टाल्स्टाय, गांधी बड़ी कड़ाई से कहते हैं कि स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध सिर्फ सन्तानोत्पत्ति के लिए ही होना चाहिए इसलिए पुरुष को ऋतुकालाभिगामी होना चाहिए। संसार के सभी नीतिवान पुरुष यही कहते हैं। पर काम-विज्ञान कहता है कि सहवास का प्रश्न केवल *नीति या धर्म का ही प्रश्न नहीं है। वह स्वास्थ्य का*, विज्ञान का और जीवन के प्राकृतिक विकास का प्रश्न है। मैंने भी इस सचाई पर विचार किया है, और इसी निर्णय पर पहुंचा हूं कि सहवास का मुख्य उद्देश्य विभिन्नलैंगीय असाधारण आनन्द-प्राप्ति है, जिससे न केवल स्वास्थ्य और जीवन की ही उन्नति मिलती है, प्रत्युत आत्मिक प्रफुल्लता भी प्राप्त होती है। सहवास-सम्बन्धी मामलों में प्रतिबन्ध करने का यदि किसीको अधिकार है तो केवल चिकित्सक को, जो एकमात्र इसी कारण से स्त्री-पुरुषों के सहवास पर प्रतिबन्ध लगा सकता है या उसे सीमित कर सकता है कि वह जब यह देखे कि उससे स्त्री या पुरुष के स्वास्थ्य पर खतरा है। और यह बात तो सर्वथा गलत है कि सहवास हर हालत में स्वास्थ्य के लिए हानिकर है।

काम-विज्ञान की ये पुस्तकें तो ठोस आधारों पर यह कहती हैं कि बलात् कामवासना को दबाकर रखने में अनेक भयानक असाध्य रोगों की उत्पत्ति होती है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों पर इसका और भी बुरा प्रभाव पड़ता है। फिर मैं अपना ही मामला देख रहा हूं। मुझे सर्वश्रेष्ठ स्त्री-शरीर प्राप्त है। पर केवल मानसिक उत्तेजना ही की कमी है। इसीने मेरे सारे उल्लास को, जीवन की चिरसाधना को, साहस और विकास को खत्म कर दिया है। कितने दयनीय हैं वे पुरुष-स्त्री जो पूर्ण स्वस्थ तो हैं, पर स्त्री या पुरुष के सहवास से वंचित हैं! अजी, मैं तो यहां तक कहने का साहस कर सकता हूं कि ऐसे स्त्री-पुरुष समाज के लिए खतरा हैं।

मैंने काम-सम्बन्धी स्मृतियों को, आकांक्षाओं को, विकारों को दबाकर भुला देने की चेष्टा की। परन्तु इससे मेरी आन्तरिक कामवासना जागरित ही हुई। उस दिन पागलखाने के प्रधान चिकित्सक कह रहे थे कि पागलखाने के पुरुषों के वार्ड में कोई उत्तेजित पुरुष इतना अश्लील

की चार जातियां होती हैं। ये जातियां स्त्रियों की शारीरिक
मानसिक भिन्नता पर आधारित हैं। स्त्रियों की ये शारीरिक
मानसिक भिन्नताएं भी इन्हीं स्रावों पर आधारित हैं। यही कर
है इन स्रावों की। स्त्री के समान पुरुषों की भी विभिन्न जा
शारीरिक और मानसिक भेदों के आकार पर होती हैं। उनका
भी ये ही ग्रंथियों के स्राव होते हैं। यही नहीं, बहुत-से पुरुष स्त्री
भाव के और बहुत स्त्रियां पुरुष-स्वभाव की होती हैं, उनका भी
इन्हीं ग्रंथियों के स्राव हैं। इन ग्रंथियों के उलट-पुलटकर देने से
स्त्री पुरुष और पुरुष स्त्री बन सकता है। स्त्री-पुरुषों की आकृति,
सूरत, शरीर का ढांचा सब कुछ इन्हीं ग्रंथियों पर आधारित है
सब विज्ञान पढ़कर तो मेरी अक्ल चकरा गई है। जिन बातों को
लोग स्वाभाविक बातें समझते हैं, उनके मूल में इन ग्रंथियों के
का प्रभाव है। इसीसे अब बड़े-बड़े चिकित्सक इन स्रावों को
रूप से शरीर में पहुंचाकर स्त्री-पुरुषों के स्वास्थ्य, शरीर के ढांचे
स्वभाव में आमूल परिवर्तन कर सकते हैं। जिन स्त्रियों या पुरु
शरीर में ये ग्रंथियां यथेष्ट स्राव नहीं करती हैं, वे पुरुष नपुंसक हो
हैं और स्त्रियों के स्तन सूख जाते हैं और दाढ़ी-मूंछ निकल आती
मैंने कुछ स्त्रियां दाढ़ी-मूंछवाली देखी हैं। उनके स्वभाव भी पुरु
जैसे होते हैं। पहले मैं इसे भगवान की माया समझता था, अब जा
कि ये इन्हीं ग्रंथियों के स्राव की करामात है। इस वैज्ञानिक अनु
के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि स्वभाव वास्तव में एक र
निक परिणाम है और उसका मूल उद्गम अन्तःस्राव पेशी से पैद
है। इन स्रावों को उत्पन्न करने वाली अनेक पेशियां हैं। यदि एक
का काम सुस्त होता है तो दूसरी पर भी उसका प्रभाव पड़ता है
उससे देह-स्वभाव बदल जाता है।

लोग इस कुदरती वैज्ञानिक शरीर-निर्माण की बारीकी को
जानते, और थोथे नीति के उपदेशों द्वारा सब किसी को संयम क
देश देकर और उनके स्वभाव और शरीर-निर्माण के प्रतिकूल
बलात् संयम के लिए विवश करते हैं, जिसका घातक प्रभाव
और मन पर पड़ता है।

नहीं करता जितना स्त्रियां। इसका अभिप्राय तो स्पष्ट है कि उन्हें अपनी वृत्ति को दमन करने के लिए जितनी शक्ति खर्च करनी पड़ती है, उतनी शक्ति उनमें नहीं है।

नीतिशास्त्री और धर्माचार्य मनोनियमन और संयम पर चाहे जितना भी जोर डालें, और उसकी उपयोगिता की जितनी भी चाहे प्रशंसा करें, पर बलात् मनोनिग्रहों के दूषित परिणामों से उनको छुटकारा नहीं मिल सकता। इस समय और यथार्थ मनोनियमन को पालन करने की सामर्थ्य विरले ही मनस्वी पुरुष में हो सकती है, सर्वसाधारण में नहीं। भला सोचिए तो आप, मेरे जैसा सीधा-सादा गृहस्थ—जो अपनी पत्नी में अनुरक्त है, और जिसने कभी संयम के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं विचारा है, और स्वाभाविक कामोद्रेक में सहवास का सुख प्राप्त कर हंसी-खुशी जीवन व्यतीत करना चाहता है—क्या पवित्र-जीवी और शांत नागरिक नहीं है? क्या मेरे जैसे व्यक्ति को किसी भी अर्थ में दुराचारी कहा जा सकता है?

अज्ञानीजन समझते हैं कि कामवासना एक देह-स्वभाव है, जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, परन्तु ऐसी बात नहीं है। शरीर में कुछ ग्रंथियां हैं, वे अनेक हैं। उनसे विभिन्न प्रकार के स्राव निकलते, और रक्त में मिलते रहते हैं, जिनसे शरीर में जीवनी शक्ति का स्रोत प्रवाहित रहता है, तथा जीवनी शक्ति का संचालना भी होता है। वे सूक्ष्म नालियों के द्वारा रक्त के साथ मिल जाते हैं। इन स्रावों का मनुष्य के स्वास्थ्य पर तो खास प्रभाव पड़ता ही है, स्वभाव पर भी पड़ता है।

इन ग्रंथियों में से दो प्रकार के स्राव निकलते हैं। बाहर निकलने-वाले स्राव को बाह्य स्राव कहते हैं। वह स्त्री-पुरुष में स्त्री-भाव और पुरुष-भाव उत्पन्न करता है। अन्तःस्राव रक्त में मिलकर कामवासना उत्पन्न करता है। जो अन्तःस्राव रक्त के साथ मिलकर कामवासना पैदा करता है, वही शरीर में पुरुषाकृति और स्त्री-आकृति के चिह्नों का उदय करता है। उसीके प्रभाव से पुरुषों के दाढ़ी-मूछ और स्त्रियों के स्तन और नितम्ब की वृद्धि होती है। इन्हींके आधार पर पुरुष और स्त्री के स्वभाव का निर्माण होता है। मैंने बताया था न, कि स्त्रियों

की चार जातियां होती हैं। ये जातियां स्त्रियों की शारीरिक
मानसिक भिन्नता पर आधारित हैं। स्त्रियों की ये शारीरिक
मानसिक भिन्नताएं भी इन्हीं स्रावों पर आधारित हैं। बड़ा करा
है इन स्रावों की। स्त्री के समान पुरुषों की भी विभिन्न जा
शारीरिक और मानसिक भेदों के आधार पर होती हैं। उनका का
भी ये ही ग्रंथियों के स्राव होते हैं। यही नहीं, बहुत-से पुरुष स्त्री
भाव के और बहुत स्त्रियां पुरुष-स्वभाव की होती हैं, उनका भी का
इन्हीं ग्रंथियों के स्राव हैं। इन ग्रंथियों के उलट-पुलटकर देने से
स्त्री पुरुष और पुरुष स्त्री बन सकता है। स्त्री-पुरुषों की आकृति,
सूरत, शरीर का ढांचा सब कुछ इन्हीं ग्रंथियों पर आधारित है।
सब विज्ञान पढ़कर तो मेरी अक्ल चकरा गई है। जिन बातों को
लोग स्वाभाविक बातें समझते हैं, उनके मूल में इन ग्रंथियों के
का प्रभाव है। इसीसे अब बड़े-बड़े चिकित्सक इन स्रावों को कृ
रूप से शरीर में पहुंचाकर स्त्री-पुरुषों के स्वास्थ्य, शरीर के ढांचे
स्वभाव में आमूल परिवर्तन कर सकते हैं। जिन स्त्रियों या पुरु
शरीर में ये ग्रंथियां यथेष्ट स्राव नहीं करती हैं, वे पुरुष नपुंसक हो
हैं और स्त्रियों के स्तन सूख जाते हैं और दाढ़ी-मूंछ निकल आती
मैंने कुछ स्त्रियां दाढ़ी-मूंछवाली देखी हैं। उनके स्वभाव भी पुरु
जैसे होते हैं। पहले मैं इसे भगवान की माया समझता था, अब जान
कि ये इन्हीं ग्रंथियों के स्राव की करामात है। इस वैज्ञानिक अनुस
के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि स्वभाव वास्तव में एक रा
निक परिणाम है और उसका मूल उद्गम अन्तःस्राव पेशी से पैदा
है। इन स्रावों को उत्पन्न करने वाली अनेक पेशियां हैं। यदि एक
का काम सुस्त होता है तो दूसरी पर भी उसका प्रभाव पड़ता है
उससे देह-स्वभाव बदल जाता है।

लोग इस कुदरती वैज्ञानिक शरीर-निर्माण की बारीकी को
जानते, और थोथे नीति के उपदेशों द्वारा सब किसी को संयम क
देश देकर और उनके स्वभाव और शरीर-निर्माण के प्रतिकूल
बलात् संयम के लिए विवश करते हैं, जिसका घातक प्रभाव
और मन पर पड़ता है।

मन शरीर से भिन्न नहीं है। वह शरीर ही के गुण-धर्म का परिणाम है। आत्मा को भी आध्यात्मिक लोग शरीर से पृथक् सत्ता मानते हैं। वे यह भी कहते हैं कि वही शरीर और मन पर नियन्त्रण करने की शक्ति रखती है। परन्तु यह कोरा सिद्धान्त ही है, व्यवहार में उसकी कोई उपयोगिता नहीं है, न विज्ञान उसके अस्तित्व से लाभ उठा सकता है, न उसके न होने से विज्ञान का काम अटकता है।

किसी शारीरिक काम की सबल इच्छा को मसोस डालना वास्तव में आत्मा का नहीं, मन का काम है। वह इच्छा जितनी दुर्दम्य होगी, मन को दमन करने से उतना ही क्षय होगा, क्योंकि मन की गति ही इन्द्रियों की इच्छाओं की पूर्ति की ओर है। मन की शक्ति आनुवंशिक होती है। पूर्व के विचार-संस्कारों से वह प्रभावित रहती है, और पूर्वानुभव का उसपर प्रभुत्व रहता है। ऐसी दशा में किसी भी इन्द्रिय की विषयेच्छा यदि प्रबल होती है तो अन्य इच्छाएं स्मृति से ओझल हो जाती हैं, और सारी जीवनी शक्ति उसी इच्छा पर केन्द्रित रहती है। अब शरीर के इस नैसर्गिक उद्वेग को, जो पराकाष्ठा को पहुंच चुका है, दबाना निश्चय ही शरीर की जीवनी शक्ति के विपरीत एक भयानक धक्का देना है, जिससे वह शक्ति छिन्न-भिन्न हो जाती है।

ओफ, कितने गहन और भयानक ये तथ्य हैं, जिन्हें सब लोग नहीं जानते, पर जिनका सब लोगों के जीवन पर नैसर्गिक प्रभाव है! लोग कहते हैं, भगवान ही शरीर को, मन को, आत्मा को बनाता है; पर मैं कहता हूं, ये ग्रंथियां ही भगवान हैं। मानव-जीवन में जो कुछ सक्रिय जीवन दीख रहा है वह इन्हींका परिणाम है। मैं जब राय से इन बातों पर बहस करता हूं, तो वह ऐसी कुटिल हंसी हंसता है जैसे मैं पागल हूं, बकवास कर रहा हूं। वह कभी-कभी बहस में भाग लेता है, पर वह इन बातों को बहुत जानता है! मैंने उसे इन पुस्तकों को पढ़ने की सलाह दी तो उसने हंसकर कहा, "मेरी तो औरत ही चली गई है। अब इन पुस्तकों को पढ़कर क्या होगा!"—उसके जवाब से मुझे दुःख होता है, पर ऐसा देखता हूं कि यह जवाब देते हुए उसे दुःख नहीं होता। मालूम होता है, कोई गुप्त बात उसके मन में है। वह ऐसे प्रसंगों पर आंखों में तैरने लगती है। कभी-कभी वह इन बातों की हंसी उड़ाता

है। मुझे मूर्ख समझता है। पर मूर्ख मैं नहीं, वह है। वह विज्ञान के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता।

रेखा भी इन बातों से भिन्नाती है। उसे तो ये बातें भाती ही नहीं। सुनना ही पसन्द नहीं करती। वह उन्हें गंदी बातें कहती है, बुढ़भस कह-कर मेरा उपहास करती है। तो क्या मैं बूढ़ा हो गया? मैं तो जीवन के प्राप्तव्य के लिए युद्ध कर रहा हूं। मेरे जीवन में कहीं एक टीस है, कहीं एक घाव है, जिसने मेरे सारे आनन्द को किरकिरा कर दिया है? मैं तो उसीका निदान चाहता हूं।

पर किसी के हंसने पर घृणा करने से क्या! मैं तथ्य तक पहुंच चुका। रेखा में जो यह विरति उत्पन्न हुई है, वह जरूर किसी ग्रन्थि के स्राव की गड़बड़ी के कारण है। डाक्टर लोग यद्यपि यह बात स्वीकार नहीं करते, पर वे मूर्ख भी तो हो सकते हैं। मुझे विश्वास है, मैं एक दिन असल बात को पा जाऊंगा। और रेखा को मैं प्राप्त कर लूंगा, नहीं तो मर मिटूंगा।

रेखा बहुत डर गई है। वह रेखा से भी उसी प्रकार की बातें करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि रेखा के मन में अब उसका प्रेम टिक नहीं रह गया। रेखा उसके पास जाते डरती है। वह कहती है, कहीं ऐसा न हो वह सोते हुए उसका गला दबोचकर मार डालें। न जाने कैसे इसके मन में यह भीति उठ खड़ी हुई है। कल इस सम्बन्ध में मेरी रेखा से ज़रा खुलकर बातें हुईं। रेखा ने कहा :

"मैं बहुत डर गई हूं। न जाने कब क्या हो जाए। कहीं वे गला दबाकर मुझे मार न डालें। पहले की भांति न उनमें हास्य है न विनोद, न कोमलता है, न सरसता। उनके नेत्रों में न जाने एक कैसी लाल-सी जलती देखती हूं! वे बड़ी देर तक घूरकर धरती में नज़र गड़ाए हुए गौर से देखते रहते हैं। कुछ बड़बड़ाते हैं। फिर हंस पड़ते हैं। कैसी डरावनी होती है उनकी वह हंसी! मैं तो उसे नहीं देख सकती, न ही सह सकती। वे जब मेरे निकट आते हैं तो एक प्रकार का आक्रमण करते हैं। बड़ा भीषण, बड़ा निर्मम आक्रमण होता है वह! मैं तिलमिला उठती हूं। कभी-कभी रो देती हूं। कभी-कभी तो वे खूंखार पशु बन जाते हैं। तब उनका आलिंगन तो क्या, उनका स्पर्श भी मैं नहीं सहन कर सकती। पर वे अपनी पाशविक आकांक्षा को तृप्त कर लेते हैं। तृप्त होकर मुझे एक ओर धकेल देते हैं, जैसे आम चूसकर गुठली दूर फेंक दी जाती है। मैं तो अब इन बातों को याद करके ही सूख जाती हूं। कभी-कभी वे बहुत-बहुत अश्लील आचरण करते हैं, अश्लील बकते हैं। उस समय उनके नेत्रों में एक हिंसक चमक मैं देखती हूं, और जड़ हो जाती हूं। क्या वे पागल हो गए हैं? मुझे बताओ। तुम्हारे पैरों पड़ती हूं, मुझे बचाओ। उनसे मेरी रक्षा करो। उन्हें मुझसे दूर कर दो। तुमने मेरी लाज लूट ली है। अब मैं कहां जाऊं? तुम मुझे सहारा न दोगे तो मैं कहीं की न रहूंगी, बोलो क्या कहते हो?"

क्या कहूं मैं? मैं तो सुनकर सन्नाटे में आ गया। फिर मैंने कहा, "रेखा, सच-सच बता दो, क्या तुम दत्त को प्यार करती हो?"

"नहीं करती। मैं तुम्हें प्यार करती हूं। औरत दो मर्दों को प्यार नहीं कर सकती, नहीं कर सकती! तुम अब यदि मेरे प्यार का प्रतिदान न करोगे, मेरी रक्षा न करोगे, तो मैं कहीं की न रहूंगी!"

"लेकिन रेखा, मैं भी तो तुम्हें प्राणों से अधिक प्यार करता हूं। तुम कहो—मैं तुम्हारे लिए क्या करूं ?"

"मैं दत्त से कह दूंगी साफ-साफ कि मैं बेवफा हूं। तुम्हें प्यार नहीं करती। तुम मुझे त्याग दो। वे मुझे त्याग देंगे, तो मैं तुमसे ब्याह कर लूंगी, जैसे माया ने वर्मा से कर लिया है।"

रेखा के इस प्रस्ताव से मैं झमेले में पड़ गया। मैं समझ ही न पाया कि क्या जवाब दूं। पहले भी एक-दो बार उसने यही बात संकेत से कही थी, पर आज तो उसने साफ-साफ कह दी। मैंने कहा, "रेखा, मुझे सोचने का समय दो। ये बड़ी गम्भीर बातें हैं। खूब सोच-विचारकर हमें अगला कदम उठाना पड़ेगा।" तो इस पर रेखा को गुस्सा आ गया। गुस्से में पहले कभी मैंने उसे देखा न था। बड़ी सुन्दर लग रही थी वह। गुस्से में उसके गाल लाल हो गए थे। फूले हुए लाल-लाल होंठ फड़क रहे थे, नयनों में बड़े-बड़े आंसुओं के मोती सज रहे थे। उसने गुस्सा होकर कहा :

"अब क्या सोच-विचार करोगे ? यहां तक आकर क्या फिर पीछे हम लौट सकते हैं ? ऐसा ही था तो पहले ही सोच-विचार करते। अब तो मैं हलाहल पी चुकी, अब तो मरना ही होगा। सोच-विचार से क्या होगा अब ?"

मैंने उसे बहुत ढाढ़स दिया, समझाया-बुझाया। पर वह तो निरन्तर रोती रही, रोती ही रही। फिर उसने न जाने कहां से एक हिम्मत मन में संचित करके कहा, "नहीं, नहीं, आज ही इसका फैसला कर दो। बोलो, तुम मुझसे ब्याह करोगे ? मैं दत्त से सब कुछ खोलकर कह दूं ?"

क्या मैं एकाएक उसका प्रस्ताव कैसे मान सकता हूं ! कितनी बदनामी होगी मेरी ! माया के मुकदमे में और उसके चले जाने से मैं पहले ही काफी बदनाम हो चुका हूं। अब यदि रेखा के तलाक और ब्याह का प्रश्न उठा तो एक भयानक विवाद उठ खड़ा हो सकता है। फिर बीवियों की अदल-बदल कितनी वाहियात है ! इसके अतिरिक्त मेरे तो और स्त्रियों से भी, लड़कियों से भी सम्बन्ध है। क्या रेखा उन्हें बर्दाश्त करेगी ? निश्चय ही नहीं कर सकेगी। मैं भी उनके प्रति एकनिष्ठ

नहीं हो सकता। आप इसे मेरी कमजोरी कह सकते हैं। पर मैं तो उसको प्रथम ही अपनी मनःस्थिति बता चुका हूं। मैं उसको नहीं छोड़ सकता। अथवा वे सब मुझे नहीं छोड़ सकतीं। इन सबके बाद एक और बात है, बहुत जबर्दस्त है, वह है दत्त का स्वभाव। उसे मैं भली भांति जानता हूं। उसका गुस्सा सांड में मुझसे से कम नहीं है। अभी तक वह रेखा पर विश्वास करता है और उसका मन प्राप्त करने के लिए सब कुछ कर गुजरने पर आमादा है। रेखा के लिए वह पागल हो रहा है। क्या आश्चर्य है, ज्यों ही उसे रेखा के बेवफा होने का ज्ञान हो जाए, वह हम दोनों को गोली मार दे। इस समय दत्त की जैसी भीषण और विषम मनोवृत्ति हो रही है, उसके लिए कुछ भी असंभव नहीं है। इन सब बातों पर विचार करके मैंने रेखा से कहा, "रेखा, तुम्हारा क्या ख्याल है कि दत्त को तुमपर और मुझपर कुछ शक है?"

"शक नहीं है; पर कब तक यह आंख-मिचौनी होती रहेगी?"

"इस बात को छोड़ो रेखा। यह सोचो कि जब उसे अकस्मात् ज्ञान होगा कि तुम बेवफा हो और मैं उसका मित्र ही विश्वासघाती हूं, तो वह हम दोनों को गोली से तो नहीं उड़ा देगा?"

रेखा का चेहरा यह बात सुनते ही सफेद हो गया। वह घबराई आंखों से मेरी ओर बड़ी देर तक देखती रही। फिर उसने कहा, "उनका जैसा रंग-ढंग देख रही हू, उसे देखते असम्भव कुछ नहीं है।"

फिर उसने कुछ सोचकर कहा, "तो चलो हम-तुम चुपचाप कहीं भाग चलें!"

"भागकर कहां जाएं?"

"बस, जहां मेरे-तुम्हारे अतिरिक्त कोई न हो।"

"पर रेखा, यह तो सोचो यह संभव कैसे हो सकता है! मैं एक प्रतिष्ठित सरकारी नौकर हूं। ऐसा करेंगे तो नौकरी तो खत्म ही हुई समझो। पर तुम्हारे लिए मैं इतना बलिदान सह सकता हूं। खुशी से। पर बेटी है। तुम्हारा भी लड़का है। इन्हें कैसे छोड़ा जाएगा। फिर हम जाएंगे भी कहां? क्या हम लोग ऐसे नगण्य हैं कि जहां जाएं वहीं छिप जाएं? रेखा, तुम्हारा यह प्रस्ताव अमल में नहीं लाया जा सकता है।"

"तो फिर पहली बात ही रहे।"

"तलाक और ब्याह वाली ?"

"हां।"

"उसपर हम विचार कर सकते हैं। परन्तु तुम अभी दत्त की मनोवृत्ति का अध्ययन करो। उसके मन की थाह लो। अपने प्रति उसके मन में घृणा पैदा करो। तभी शायद इस काम में सफलता मिलेगी।"

"मैं तो उनसे घृणा करती हूं। वह बुरी हूं। अब उनके मन में कैसे घृणा उत्पन्न करूं ?"

"मैं सोचूंगा और तुम्हें राह बताऊंगा। तुम घबराओ मत। सब ठीक हो जाएगा।"

परन्तु वह मेरे वक्ष पर गिरकर फफक-फफककर रोने लगी। उसने कहा, "हाय, मैं कहीं की न रही ! किस कुक्षण में मैंने अपना मान डिगाया, अपना शील भंग किया, अपनी कुल-लाज डुबोई ! मुझे तो अब मर जाना ही चाहिए। फिर मैं जान ही दे दूंगी, तुम यदि मुझे सहारा न दोगे। मुझे इस तरह गिराकर तुम दूर खड़े नहीं रह सकते ! मुझे सहारा देना होगा। मेरे साथ मरना होगा। अब मेरी इज्जत तो गई। जब यह बात, मेरी जिन्दगी का यह काला काम—पत्नी होकर परपुरुष के सम्पर्क की बात जब मेरी जान-पहचान वाली औरतें सुनेंगी तो क्या कहेंगी ? कैसे मैं उन्हें मुख दिखाऊंगी। कहो तो सही।"

इतना कहते-कहते वह मेरी गोद में गिर गई। मुझसे उस बद-नसीब को ढाढ़स देते न बना।

मेरा मन भी उसके लिए दु:खी हुआ। पर अब किया क्या जा सकता है ! क्या उससे ब्याह कर लूं ? दत्त से सब कुछ साफ-साफ कह दूं ?

नहीं, नहीं, यह अभी ठीक नहीं होगा। सोच-समझकर मैं अगला कदम उठाऊंगा।

रेखा

आज चौथा दिन है, दत्त घर पर नहीं है। सरकारी काम से दौरे पर बाहर गए हैं। अभी और दस दिन लगेंगे उनके लौटने में। इस घर में ब्याहकर आने के बाद यह दूसरा अवसर है जब वे मुझे घर छोड़कर बाहर गए हैं। किन्तु तब में और अब में कितना अन्तर पड़ गया है! तब वे केवल तीन दिन को ही गए थे, और आठ दिन प्रथम से जाने की चिन्ता व्यक्त करने लगे थे। उस चिन्ता में कितनी व्याकुलता थी! उसे देखकर मेरा मन कैसा हो गया था! जैसे मैं इन तीन दिनों के वियोग में जिन्दा ही नहीं रहूंगी। तब तो नया ही मेरा ब्याह हुआ था; शायद दो या ढाई साल ही ब्याह को हुए थे। प्रद्युम्न तब शिशु ही था। जब वे गए थे—मैं कितना रोई थी! मुझे ढाढस देने में वे भी रोने लगे थे। पहली ही बार उस सिंह की-सी प्रकृति के पुरुष को मैंने रोते देखा था। और जब वे चले गए तो जैसे मेरा सारा संसार अंधेरा हो गया था। *भीतर-बाहर सर्वत्र एक अभाव ही अभाव मुझे दीखने लगा था।* न खाना अच्छा लगता था, न नींद आती थी। दिन-दिन-भर मैं प्रद्युम्न से उन्हींकी बातें करती थी। बेचारा शिशु कुछ समझता न था, मेरे नेत्रों में आनन्द की झलक देखकर या प्रेम की पीड़ा देखकर वह हंसता था, और मैं उसे छाती से लगा लेती थी। कितना सुख मिलता था मुझे उस समय शिशु प्रद्युम्न के आलिंगन में! जैसे वह उन्हींका एक छोटा-सा संस्करण हो। जैसे वे ही सिकुड़कर मेरे हृदय का हार बन गए हों। मैं तब जागते ही सपने देखती थी। उनकी मेघगर्जन-सी हंसी अपने कानों से सुनती थी। उनके प्यार का अपने प्रत्येक अंग पर अंकन अनुभव करती थी। उस वियोग की पीड़ा में भी कितना आनन्द मिलता था मुझे! उन तीन दिन में उन्होंने चार तार भेजे। चौथे तार में आने की

वेबी अब पहले की भांति मुझे देखकर खुश नहीं होती, सामने से टल जाती है। बात भी बेमन से करती है। पर मुझे उसकी क्या परवाह है।

मैं चाहती हूं, यह आंख-मिचौनी का खतरनाक खेल बन्द हो जाए और हम खुल्लम-खुल्ला ब्याह कर लें। मुझमे इतना साहस उदय हो गया है कि मैं दत्त से कह दूं कि मैं उन्हें प्यार नहीं करती, राय को करती हूं। वे मुझे तलाक दे दें। पर राय झिझकते हैं, टालते हैं। परन्तु अब इस बार दत्त के वापस घर लौटने से पहले ही सब ठेस-पेस कर लूंगी, सब बातें तय कर लूंगी। अब इस तरह तो नही रहा जा सकता न?

विवाह का उद्देश्य है कि स्त्री-पुरुष दोनों पूर्णरूपेण परस्पर सतुष्ट हों, सुखी हों; दोनों के जीवन विकसित हों। वैवाहिक जीवन जहां भूतल पर स्वर्ग का राज्य है, वहां नरककुण्ड भी हो सकता है। सब लोग वैवाहिक जीवन की त्रुटियों की परवाह नहीं करते हैं। और उनके वैवाहिक जीवन अन्त में असफल होते हैं। अन्त मे तुलसी की वही कहावत चरितार्थ होती है, 'तुलसी गाय बजाय के दियो काठ में पाय।' स्त्री-पुरुष का जो आत्मसमर्पण एकान्त सुख का उद्गम है, वही नितांत नीरस बन जाता है।

वास्तव मे विवाह एक विज्ञान है। वैज्ञानिक जीवन में हम विचार-हीन तरीके पर नही चल सकते। स्त्री-पुरुष के बीच जो एक वैज्ञानिक सीमा है उसे जाने या माने विना हम प्रेममूलक विवाह मे भी सुखी नही रह सकते। निःसन्देह विवाह में प्रेम का बड़ा प्रभाव है और छोटी-मोटी असुविधाएं और वास्तविकताएं तो किसी तरह बर्दाश्त की जा सकती हैं, परन्तु मैं जानती हूं वास्तविकताओं की लपेटों मे प्रेम भस्म हो जाता है, और तब वैवाहिक जीवन मे जलन ही जलन रह जाती है।

मैं आदर्श की बात नही कहती। समाज मे हम यह मानकर ही चल रहे हैं कि स्त्री-पुरुष का जीवन मिलकर ही पूर्णाङ्ग होता है। स्त्री के विना पुरुष का और पुरुष के विना स्त्री का जीवन अपनी पूरी मर्यादा को नही प्राप्त कर सकता। परन्तु एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियों का विवाहित जीवन अधिक महत्त्वपूर्ण है। दूसरे क्षेत्रों मे स्त्रियो के विवाहित जीवन मे कामतत्त्व पुरुष की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। पुरुष के लिए यह सुविधा है कि वह वैवाहिक जीवन से

उकताकर अपना ध्यान और शक्ति दूसरे कामों में लगा ले। प
लिए यह सम्भव नहीं है। यदि पुरुष स्त्री को अकेला छोड़ दे त
स्त्री को असह्य कष्ट होगा, और उसके स्त्री-जीवन का प्र
असहनीय हो जाएगा; उसका जीवन मरुभूमि हो जाएगा और
सब सोते सूख जाएंगे। विवाह का उद्देश्य यह है कि स्त्री-पुरुष
तक जो दो जीवन अलग-अलग धाराओं में प्रवाहित हो रहे थे,
धाराएं एकीभूत हो जाएं। परन्तु स्त्री-पुरुष के साहचर्य में काम
महत्ता है। कभी भी स्त्री शारीरिक और मानसिक स्थितियों
छोड़ा जाना सहन नहीं कर सकती।

विवाह का अर्थ यह नहीं है कि दोनों एक-दूसरे के सा
मिलाकर चलने का ध्यान रखें। तालमेल रखकर चलने से स्त्री
नहीं चल सकता। स्त्री के जीवन का सबसे बड़ा भय है कि व
अकेली तो नहीं छोड़ी जा रही है। भारत का समाज स्त्रीहीन
पुरुषों का समाज पृथक् है और स्त्रियों का पृथक्। इस व्यवस्था
की स्थिति को पुरुषों की अपेक्षा हीन बना दिया है। समाज
हीनता को वास्तविकता बना दिया है। और वह उसी को मानकर
है।

हां, एक बात है। प्रतिभाशाली व्यक्ति की पत्नी होना दुर्धर्ष
का काम है। प्रतिभाशाली लोग दृढ़चित्त होते हैं। वे अपने काम
रहते हैं, और पत्नी के प्रति अन्यमनस्क जान पड़ते हैं। वे जी
छोटी-छोटी किन्तु अनिवार्य बातों में पत्नी का सम-सहयोग
सकते, और स्त्रियां उन्हें हृदयहीन समझने लगती हैं। ऐसी ही
उनके सम्बन्ध में कही जा सकती है जो उच्चाकांक्षी होते हैं।

जीवन में जितनी ही अधिक दिलचस्पियां होती हैं, जीवन का
ही विस्तार हो जाता है। सुख-दुःख भी उतना ही बड़ा हो जात
परन्तु स्त्रियां जो घरों में निष्क्रिय बैठी रहती हैं, वे उनमें भाग न
सकतीं। उनके लिए प्रेम और काम ही एक महत्त्वपूर्ण वस्तु रह
है। परन्तु यह शायद ठीक नहीं है। स्त्री को कन्धे से कन्धा मि
पति से सहयोग करना हितकर हो सकता है, और यह सहयोग वैस
अभिन्न होना चाहिए जैसा काम-साहचर्य में होता है।

मैं स्वीकार करती हूं कि विवाह का अर्थ ज़िम्मेदारियों का प्रारम्भ है। मां-बाप के यहां निर्द्वन्द्व जीवन व्यतीत करने वाली लड़की पर एक-बारगी ही ज़िम्मेदारियों का तूफान उमड़ आता है, परन्तु यह भी तो सच है कि जीवन के सम्बन्ध में पति-पत्नी को एक सहयोगी साथी होने के नाते एक स्वस्थ और प्राकृतिक दर्शन है। दर्शन से मेरा मतलब कल्पना की क्लिष्ट उड़ानें नहीं है। दर्शन से मेरा अभिप्राय वह समीक्षा-दृष्टि है, जिससे हम जीवन को देखते हैं। बेशक जब हम जीवन पर व्यापक दार्शनिक दृष्टि डालते हैं तब प्रेम और कामतत्त्व ही नहीं, संपूर्ण जीवन ही ज़िम्मेदारियों की अपेक्षा नगण्य रह जाता है, परन्तु हमेशा नहीं। जीवन तो बाहर-भीतर खतरों से भरा हुआ है ही। संसार में भूचाल आते हैं, उत्पात होते हैं, महामारी फैलती है, जनपदों ध्वंस होता है। हिंस्र जन्तु हैं, हिंस्र मनुष्य हैं, ये सब तो नित्य ही हमारे जीवन के चारों ओर हैं और उनके सहारक आक्रमण हमें सावधान होने की कोई चेतावनी भी नहीं देते। फिर भी हम हंसते-बोलते हैं, खाते-पीते हैं, मौज-मजा करते हैं, खतरों के डर से हम सदैव आशंकित मोड़े ही बने रहते हैं! इसी भांति ज़िम्मेदारियां वैवाहिक जीवन की भारी-भारी हैं—पर उन्हें बर्दाश्त करने का साहस और बल तो हम प्रेम और कामतत्त्व ही से पाते हैं। कामतत्त्व और प्रेम ही तो हमें—स्त्री और पुरुष को—भिन्नलैंगिकता के माध्यम से एक इकाई में बांधता है। यही तो स्त्री-पुरुष के प्राणों का गठबन्धन करता है।

यदि स्त्री-पुरुष के जीवन-दर्शन के दृष्टिकोण भिन्न हों—एक उसे गम्भीर उद्देश्यपूर्ण और दूसरा जैसे बने मौज-मजा करने का माध्यम समझता हो—तो दोनों की मिलकर एक इकाई न बन पाएगी, न काम-विराम और न प्रेम-विकास एक सम्थान पर केन्द्रित होगा।

इसीसे शायद प्राचीन ज्योतिर्विद् विवाहकाल में पति-पत्नी की लग्न-कुण्डली मिलाते हैं, उनमें वर्ग, गण, नक्षत्र और राशि को प्रधान देखते हैं। मैं तो इस ज्योतिर्विज्ञान को जानती नहीं। पर यह मैं देखती हूं कि यह विज्ञान नर-नारी-साहचर्य पर एक समीक्षा-दृष्टि ही नहीं, समाधान-दृष्टि भी रखता है। मैं यह भी समझती हूं कि निकट भविष्य में वर-वधू की जोड़ी मिलाने का काम ज्योतिर्विद् नहीं, चिकित्सा

आजकल गम्भीरता से विचार कर रही हूं। पहले जाना कि यदि मेरे मन में तिरस्कार का उदय हुआ था: जैसे उसने अपने शादि वर्ष के वैवा-हिक सम्बन्ध को भंग कर दिया। पर अब मैं देखती हूं उन परिस्थितियों और जिम्मेदारियों को जो वैवाहिक जीवन को इस मोड़ पर ले आती हैं। मैं भी अब उस मोड़ पर पहुंच गई हूं। और जिम्मेदारियों तथा परिस्थितियों का—जो मेरे ऊपर से गुजर रही हैं, अध्ययन कर रही हूं। मैं अब चाहती हूं, जल्द से जल्द से जल्द मेरा विवाह विच्छेद हो जाए, और जल्द से जल्द मेरा राय से विवाह हो जाए।

भला इस चोरी-छिपी के जीवन में क्या सुख है? और इतनी बड़ी चोरी? शरीर की या चारीचोरी? गैर पुरुष को समर्पण? धत्त है। किसी दूसरी स्त्री के ऐसे आचरण को मैं कदापि बर्दाश्त नहीं कर सकती थी। पर अब तो मैं स्वयं ही वह गर्हित आचरण कर रही हूं; और अपनी ही नजरों में गिरती जाती हूं। कैसे बर्दाश्त करूं मैं इस जीवन को! नहीं, नहीं। यह नहीं हो सकता! अब तो दत्त के आने से प्रथम ही अब कुछ निर्णय हो जाना चाहिए।

राय टालते हैं। क्यों टालते हैं भला? क्या वे मुझसे प्रेम नहीं करते? क्या उनके वे सब मीठे वादे झूठे हैं? उनका यह वैकल्प छल है? यदि ऐसा हुआ तो मैं तो नष्ट हो गई, कहीं की न रही!

यह ठीक है, अभी कुछ बिगड़ा नहीं है। अभी मैं दत्त की पत्नी हूं। यह सच है कि दत्त फिर से मेरा मन पाने के लिए पहले से अधिक बेचैन हैं। केवल मैं अपना मन फेर लूं, उन्हीं में अनुरक्त हो जाऊं, जैसे मैं थी। वे तो अभी कुछ भी नहीं जानते। मेरे चरित्र पर सन्देह भी नहीं करते। फिर से मुझे पाकर खुश होंगे, अपना जन्म सफल समझेंगे, और मेरा यह व्यभिचार—यह कलुष—कभी भी प्रकट न होगा, छिपा ही रहेगा।

परन्तु नहीं, अब यह नहीं हो सकता। क्यों नहीं हो सकता, यह मैं आपको कैसे समझाऊं! मैंने कहा न था कि मन की दुनिया तन की दुनिया से सूक्ष्म तो है पर अत्यन्त शक्तिमान है। उसीने मेरे जीवन को चारों ओर से दबोच लिया है। मैं जिस मार्ग पर चल पड़ी हुई हूं उसपर से अब लौट नहीं सकती। मैं उस जाति की स्त्री नहीं हूं कि जहां प्रेम

कि पुरुष स्त्री से अपने स्वार्थ का ही सम्बन्ध रखता है; और स्त्रियां इस बात को नहीं समझतीं। समझ भी कैसे सकती हैं? विवाह के बाद जो छोटी-मोटी सुख-सुविधा और स्वामित्व उसे मिल जाता है, वह तो उसीमें खो जाती है। पति के द्वारा मिले आदर-सत्कार, लाड़-प्यार को देखकर, वह यह कल्पना भी नहीं कर सकती कि वह मेरी मंगलकामना नहीं करता। न वह अपने पिता के ही सम्बन्ध में ऐसी बात सोच सकती है; परन्तु जब स्त्री-जाति के समूचे सुख-दुःख और उसके विवश जीवन पर विचार किया जाता है तो पता लगता है कि पति और पिता दोनों ही ने केवल अपना ही मंगल, अपनी ही सुविधाएं देखी हैं, स्त्री की नहीं। स्त्री को यह अवश्य सोचना चाहिए कि संसार-भर में जीवन के नियमों का निर्माण पुरुषों ने किया है। पुरुषों के स्वार्थों और उनकी सुख-सुविधाओं को उन्होंने प्राथमिकता दी है, और उन नियमों का निर्माण करते समय वे न पिता थे, न भाई, न पति; वे केवल पुरुष थे और स्त्रियां उनकी आत्मीया न थीं, केवल स्त्री थीं। पिता ने पिता बनकर पुत्री के सुख-दुःख का विचार नहीं किया, न पति ने पति बनकर पत्नी पर ममता की। वे पुरुष थे, इसलिए केवल पुरुष के स्वार्थ को सामने रखकर उन्होंने समाज और धर्म-सम्बन्धी कानून बनाए, और उन सब नियमों-कानूनों का अभिप्राय रहा, स्त्रियों से पुरुष अपना प्राप्तव्य अधिक से अधिक कितना और कैसे वसूल करे। मनु आए, पराशर आए, बुद्ध आए, मूसा आए, ईसा आए, शंकर आए और श्लोक पर श्लोक रचकर, सिद्धांत पर सिद्धांत रचकर शास्त्र-वचन की उनपर मुहर लगा दी। इस प्रकार पुरुषों के स्वार्थ ने धर्म बनकर समाज पर शासन करना आरम्भ कर दिया। धर्म के सामने भला व्यक्ति का सुख-दुःख, स्नेह, भलाई-बुराई किस काम आ सकती है? इसीका तो परिणाम यह हुआ कि मुर्दा पति के साथ ज़िन्दा स्त्री को चिता पर जला डालना भी स्त्री धर्म की चरम सीमा मान ली गई।

प्राचीन युग में लोग अपने पुत्रों-पुत्रियों को भी देवताओं के सामने बलिदान दे दिया करते थे। यहूदी संत इब्राहिम ने भी पुत्र के बलिदान का संकल्प किया था। आज हमें यह बात सुनने में अटपटी लग रही है कि कैसे पिता अपने पुत्र और कन्या की हत्या करके पुण्यार्जन करने की

था, "आप ठीक कहते हैं। परन्तु जिस देश में स्त्रियों के सिर काटे जाते हैं, उस देश में यह स्वाभाविक है कि स्त्रियां यह जानना चाहें कि उनके सिर क्यों काटे जा रहे हैं।"

किसी भी देश में जाइए। कहीं भी स्त्री को उसका प्राप्तव्य नहीं चुकाया जाता। सर्वत्र ही उनके साथ अन्याय-अत्याचार होता है। वह पुरुष का एक उपांग बनकर जीती है। केवल यही नहीं कि पुरुष स्त्री पर सदा अत्याचार करता आया है; सदा ही उसे न्यायोचित प्राप्तव्य से उसने वंचित रखा है। मेरा यह अभियोग सभी देशों और सभी जातियों पर है।

असल बात यह है कि बलात् सहयोग एक निकृष्ट काम है। यदि स्त्री पर यह सहयोग लादा जाएगा तो उसकी स्थिति अवश्य गिर जाएगी। मैं पहले ही कह चुकी हूं कि धर्म की कट्टरता और अधर्म के अत्याचार ने मिलकर स्त्रियों को नीचे गिरा दिया है। धार्मिक आवेश में विरक्ति होती है। मन में यह भाव उत्पन्न करना पड़ता है कि सांसारिक वस्तुओं में हमारी कोई आसक्ति नहीं है। सांसारिक वस्तुओं में स्त्री भी है। अन्ततः स्त्री पुरुष की जीवन-संगिनी न होकर उसकी एक सम्पत्ति, मतलब की वस्तु बन गई है। फिर क्यों न पुरुष उसका मनमाना उपयोग करेगा?

आचारशास्त्र की एक प्रारम्भिक बात यह है कि मनुष्य अपनी स्वाधीनता को वहां तक खींच ले जाता है जहां तक किसीकी समकक्ष स्वाधीनता से वह टकरा न जाए। यह एक प्रकार से मनुष्य के कार्यों पर नियन्त्रण है। और समाज में सभी प्रश्न इसी नियन्त्रण में समा जाते हैं। इसे जिस समाज ने जितना पवित्र माना है उतना ही उसने स्त्री के अधिकारों तथा स्वतन्त्रता का अपहरण किया है।

परन्तु सच्चे मनुष्य की स्वस्थ और शुभ बुद्धि स्त्री को जो अधिकार देती है, वही मानव-समाज की ठीक नीति है। उसीसे मनुष्य का कल्याण होगा। स्त्री अबला है, पुरुष सबल है। पर वह उदार और स्नेहमयी अधिक है। जब तक पुरुष यह समझता है कि स्त्री पुरुष की सम्पत्ति है उसकी भोग-वस्तु है, तब तक आज की नारी से उसका कोई समझौता नहीं हो सकता। पाश्चात्य देशों में ऐसा है कि अब तक

वे स्त्री और पुरुष तन-मन से स्वाभाविक बंधन में नहीं बंध जाते कानूनी बंधन में नहीं बंधते। जब स्वाभाविक बंधन ही न रहेगा, तब कानूनी या सामाजिक या धार्मिक चाहे जो भी नाम उस दीजिए वह बंधन सफल नहीं हो सकता, न उसे समाज के लिए श्रेयस्कर समझा जा सकता है।

आज हमारे देश ने भी तलाक स्वीकार कर लिया है। मैं कभी भी उसके पक्ष में नहीं थी, पर स्वयं इस स्थिति में आ पहुंची हूं कि तलाक मेरे लिए अनिवार्य हो गया है। इस समय तलाक के मुभीते कर गए हैं। इससे यह सम्भावना विकसित हुई है कि जिस समय एक पत्नी-विवाह की प्रथा का विकास हो रहा था, उस समय कानून के द्वारा पुरुष और स्त्री को मिलाकर एक करना विवाह का एक अंग मान लिया गया, जो वास्तव में एक प्रकार का सौदा था। अब प्रेम के द्वारा दोनों का मिलाकर एक होना महत्ता नहीं रखता। कानून के द्वारा मिलकर एक होना ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। परन्तु यह व्यवस्था देर तक न चल सकेगी। और कानून के द्वारा स्त्री-पुरुष के मिलने की अपेक्षा प्रेम के द्वारा मिलना ही अधिक उपयुक्त प्रमाणित होगा; और स्त्री पुरुष के संयोग में उच्चकोटि की भावनाओं अथवा विचारों का अधिकाधिक समावेश होगा। और तब समाज यह भी समझ जाएगा कि आज के सभ्य समाज में विवाह की जो परिपाटी अब तक चली आती रही है वह असभ्य-बर्बर सामन्ती युग की परिपाटी का ही एक वर्तित रूप था जो शारीरिक एवं मानसिक दोनों ही धरातलों पर सर्वथा असफल रहा।

अब तो रेखा अचल चट्टान की भांति मेरे सामने अड़ गई। उसकी सारी भावुकता, कोमलता, प्रेम जमकर बर्फ का ग्लेशियर बन गया है—दुरूह-दुर्गम और अगाध, अचल। वह ज़िद ठान बैठी है कि मैं उसे विवाह की स्वीकृति दे दूं, और इन के आने पर वह सब कुछ इनसे कह दे, और तलाक देने पर इन को मजबूर करे। फिर हम ब्याह करके पति-पत्नी का शान्त जीवन व्यतीत करें। बेचारी गरीब नहीं समझती कि अब उसके और मेरे लिए पति-पत्नी का शान्त जीवन व्यतीत करना कितना कठिन है, लगभग असम्भव है। अब वह एक पवित्र, अछूती, विवाहेच्छु के योग्य अबोध कन्या नहीं है, परस्त्री है; एक प्रतिष्ठित और एकनिष्ठ पति की विवाहिता पत्नी है जिसका समाज में एक स्थान है। इसके अतिरिक्त वह एक पुत्र की मां है। और इधर मैं ढलती उम्र का एक लम्पट व्यक्ति हूं। सचमुच मैं लम्पट तो हूं ही। कितनी ही कुलवधुओं और कुमारिकाओं का मैंने शील भंग किया है, पवित्रता नष्ट की है; विलास किया है; झूठे वादे किए हैं। आत्मभोग को मैंने प्रधानता दी है। स्त्री को भोग-सामग्री समझा है। विवाहिता पत्नी तो मेरी थी माया—बड़ी योग्य और निष्ठावान पत्नी थी। उसे मैंने खो जाने दिया। चुपचाप नहीं; अपनी सब इज्जत-आबरू के साथ। अब तो अदालत ने भी मेरे चरित्र पर दुश्चरित्रता की मुहर लगा दी। अब सम्भ्रान्त परिवार के लोग अन्तरंग रूप में अपने घर में मेरा स्वागत करते कतराते हैं। सम्भ्रान्त महिलाएं मुझसे मिलने से बचना चाहती हैं। वृद्धाएं मुझे कौतूहल से देखती हैं। माया के सम्बन्ध में व्यंग्य-बाण कसती हैं—मुझे कष्ट पहुंचाने के लिए, मेरा उपहास करने के लिए, मेरी ही दृष्टि से गिराने के लिए। मगर मैं उनका कुछ नहीं कर सकता, निर-

मिलाकर रह जाता हूं।

मेरी उम्र ढल चुकी है। अब तो मैं पचास के पेटे में पहुंच चुका हूं। और मेरी बदनामी यहां तक फैली हुई है कि मैं बेबी के लिए अच्छा लड़का नहीं पा रहा हूं। कोई प्रतिष्ठित परिवार का सम्भ्रान्त पुरुष अपने लड़के से मेरी लड़की का रिश्ता करना नहीं चाहता, मेरी लड़की को अपनी बहू बनाना नहीं चाहता। मेरी बेबी निर्दोष है, सुन्दर है, बुद्धिमान है, उच्चशिक्षा प्राप्त है। वह सब भांति योग्य वर की पात्री है, परन्तु मेरे कलंकित जीवन की छाया उसपर है। मेरा कलुष उसपर छा गया है। जैसे वह एक अपवित्र वस्तु हो गई है, और समाज उसे छूना भी नहीं चाहता। दहेज में मैं एक अच्छी रकम देने को राजी हूं, पर तो भी लोग मेरी बात, मेरा प्रस्ताव अस्वीकार कर देते हैं। बेटी का बाप होना भी कितना कष्टकर है!--यह मैंने कभी नहीं सोचा था :

"जाते हि कन्या महतीह चिन्ता, कस्मै प्रदेयेति महान् वितर्कः।
दत्ता सुखं यास्यति वा न वेति कन्या पितृत्वं खलु नाम कष्टम्॥"

बेबी भी अब यह बात जान गई है। उसकी विवाह की आयु बीतती जा रही है, परन्तु योग्य वर उसे अस्वीकार करते जा रहे हैं। इन बातों को सुन-सुनकर मेरे प्रति एक वितृष्णा के भाव उसके मन में भरते जा रहे हैं। अब वह पहले की भांति मेरा ख्याल भी नहीं रखती। रेखा से अब वह घृणा करती है। उसका इस प्रकार घर में आना और मेरे साथ रहना उसे बर्दाश्त नहीं है। वह कई बार अपना विरोध प्रकट कर चुकी है। उसने होस्टल में जाकर रहने को कितना हठ किया था! पहले माया ने चाहा था, तब तो वह इन्कार कर गई थी; पर अब बहुत हठ किया। खैर, अब तो वह बात ही खत्म हुई—उसकी शिक्षा समाप्त हो गई। पर मैं देखता हूं, इस घर में रहना अब उसे दूभर हो रहा है। लेकिन उसे कहां निकाल फेंकू? क्या सड़क पर फेंक दूं? मैं तो कुपात्र को भी अब उसे दे डालने पर आमादा हूं—पर कोई मिले भी तो! कोई हाथ भी तो फैलाए!

इस हालत में जब बेबी के ब्याह का यह बहुत बड़ी जिम्मेदारी मेरे सिर पर सवार है, तो मैं रेखा से ब्याह करने की बात पर . . . सकता हूं! मेरे सामने सारी ही कठिनाइयां हैं, सिर्फ बेबी ही

सुनीलदत्त

रेखा घर में नहीं है तो कहाँ है ? कहाँ है ? आज दस दिन बाद मैं घ
लौटा हूँ। सोचता चर रहा था कि वह बरामदे में आँखें बिछाए खड़ी
होगी। अपनी पढ़ाई का तार मैं भेज चुका था। पर यहाँ सन्नाटा है।

"प्रद्युम्न सो रहा है ? आया, आया, क्या तुम सो रही हो ?"

आया हड़बड़ाकर खड़ी हो गई। उसने आँखें मलते-मलते कहा,
"जी नहीं।"

"लेकिन रेखा कहाँ है ?"

"जी, जी…"

"कहो, कहो !"—क्या कोई दुर्घटना हो गई है ? रेखा मर गई है ? रेखा नहीं है ? कितनी आशंकाओं से मेरा मन भर गया है। पर आया नीची नजर किए खड़ी है, जवाब नहीं देती।

"जवाब दो आया ? क्या उसकी तबियत खराब है ?"

"जी नहीं।"

"वह ठीक-ठाक तो है ?"

"जी।"

"लेकिन कहाँ है ?"

"जी, जी…"

"जी, जी, क्या बकती हो ? कहती क्यों नहीं ? कहाँ है रेखा ?"

"राम के घर गई है, अभी लौटी ... है।"

"क्या ? राम के घर ?"

... सिर घूम गया है ... न सिर ...

... है।

... वह यहाँ इस ...

"जी, वह नहीं सकती।"
"क्यों नहीं वह सकती ?"
"जी, मैं नहीं जानती।"
"मेरा तार आया था ?"
"जी।"
"रेखा ने पढ़ा था ?"
"जी नहीं।"
"क्यों ?"
"वे यहां नहीं थीं।"
"तब कहां थीं ?"
"राय के घर।"
"राय के घर ? कब गई थी वहां ?"
"दोपहर खाना खाकर।"
"और अभी तक नहीं लौटीं ? दस बज रहे हैं !"
"जी।"
"तार कहां है ?"
"यह है।"
"तार तो किसीने पढ़ा ही नहीं है। जैसा का तैसा बन्द है।"
"तुमने तार वहां भेजा नहीं ?"
"जी नहीं।"
"क्यों नहीं ?"
"हुक्म नहीं है।"
"कैसा हुक्म नहीं है ?"
"यह कि वहां राय के घर पर कोई नौकर-चाकर न आए।"
"क्या आज से पहले भी गई थी ?"
"रोज जाती हैं।"
"किस वक्त ?"
"दोपहर में खाना खाने के बाद।"
"और आती कब है ?"
"कभी दस बजे, कभी बारह बजे रात को।"

लेकिन तुम हंस क्यों रही हो रेखा ? भगवान की कसम म—म—
—मैं न—न—नशे में नहीं हूं। आओ, आओ, एक किस डार्लिंग
एक किस। आओ, चली आओ। लेकिन तुम्हारी आंखों में यह क्या चमक
रहा है—लाल, लाल ? क्या तुमने भी पी है ? तब तो बहार ही बहार
है !

पियो दस्त, पियो। आलमारी में और दूसरी बोतल है।

वाह दोस्त, खूब याद दिलाई ! लाओ फिर। लेकिन पानी खत्म।
नीर ही सही। बोतल मुंह में लगाता हूं। ओह आग-आग-आग, जला-
जला-जला-जला, आ-आ-ग ! आ-आ-ग !

पियो दस्त, पियो। अभी बोतल में बाकी है।

लाओ फिर, रेखा, और पास आ जाओ। अरे, तुम तो लम्बी होती
जा रही हो—पर्वत के समान—क—क—कैसे तु—तुम्हें अंक में
समेटूंगा ?

अरी ओ री चट्टान—पाषाण—पाषाणी—आ—आ—अब—म
—म मैं आता हूं।

दोनों हाथ पसारकर चल रहा हूं, और टकरा जाता हूं आलमारी
से—सिर चकरा गया। तीव्र वेदना—बड़ी सी—ख-खून-खून-खून !

सुनीलदत्त

ठीक है, दिन निकल आया। धूप खिड़कियों के पर्दों से छनकर आ रहीं
है। लेकिन सिर में बड़ा दर्द है, ठीक है, याद आया, रात बहुत पी गय
और आलमारी से टकरा गया। लेकिन रेखा कहां है? ओह, वह तं
रात घर में थी ही नहीं! वाह, मैं रात-भर फर्श पर ही शायद पड़ा रहा
अब उठना चाहिए। वह सामने शृंगार-टेबल है, उसके शीशे मे देखूं
ओफ़, बड़ी विकराल सूरत बन गई। शायद सिर फट गया। कोई बा
नहीं। अभी साफ किए डालता हूं। कौन द्वार खटखटा रहा है? ठहरं
ज़रा, मैं बाथरूम में हूं, ज़रा ठहरो! यही बाथरूम है। पहले खून घ
डालना चाहिए। बड़ा भारी ज़ख्म हो गया है। लेकिन भर जाएगा
बड़े-बड़े ज़ख्म भर जाते हैं। पर दिल मे जो घाव रेखा कर गई, व
नही भरेगा। तो चली ही गई वह, राय के यहां! इतना तो मैंने कभ
नहीं सोचा था। रेखा ऐसी थी भी नहीं! फिर राय की मुझसे क्य
समता! वह बूढ़ा बदसूरत आदमी है। लेकिन यह हो कैसे गया? सोच
तो करता था रेखा के रंग-ढंग देखकर कि कहीं वह बेवफ़ा तो नहीं
पर जब-जब ये बातें मन मे उठती थीं, मैं अपने ही को धिक्कारता था
मैं तो समझता था कि कहीं मेरे ही मे त्रुटि है। इसीसे रेखा मेरी होक
भी मुझसे दूर हो गई है। पर रेखा पर-पुरुषगामिनी बन जाएगी, य
तो मैं स्वप्न में भी नहीं सोच सकता था।

राय पर मैंने विश्वास किया। छिः, छिः, दुनिया में अब किसी भ
आदमी पर विश्वास नहीं करना चाहिए। राय मेरा पुराना दोस्त
कितने अहसान हैं मेरे उसपर! पर खैर, जो होना था वह तो हो
गया। अब तो रेखा को विसर्जन करना होगा, जैसे देवी की सजी-ध
मूर्ति को गंगा में विसर्जन करना होता है। पर मैं रेखा के बिना जीऊ

कैसे ? नहीं नहीं हो सकता है। किसी तरह नहीं। मैं पूर्ण असमर्थ हूं कि रेखा मेरे बिना नहीं जी सकती। तो क्या यह बात सच मान लूं। रेखा चली गई मोहनलाल न्योतना और [illegible] बनने के लिए। लेकिन मैं यह कैसे कह सकता हूं ! मैं उसका अधिकारी [illegible] कौन हूं ! पर मैं पति तो हूं। पति क्या अपनी पत्नी पर नियन्त्रण नहीं रख सकता ? उसे एक-लिप्त होने से वर्जित नहीं कर सकता ? अब वह पत्नी क्या हुई, वेश्या हुई।

इसमें मैं अपने दोनों को देख लूं। मैं शराब पीता हूं, पीता रहा हूं। मेरे हैसियत के बहुत लोग पीते हैं। केवल इसलिए नहीं कि हमारे मस्तिष्क पर काम का जो भारी भार है, उसे सहन करने की सामर्थ्य इसमें बनी रहे, और हम रात आराम से गुजार सकें, अपितु इसलिए भी कि यह एक मोडर्न सभ्यता का प्रतीक भी है। मानता हूं कि मैं कभी-कभी बहुत पी जाता हूं; पर इससे मैंने किसीपर कोई अत्याचार तो नहीं किया, किसी का कुछ बिगाड़ा तो नहीं ? इतनी-सी ही बात में पत्नी पति से बेवफा हो जाएगी ? दूसरे पुरुष की अंकशायिनी बन जाएगी ? तब तो भले घरों की स्त्रियों की कोई मर्यादा ही नहीं रह सकती। हो सकता है, शराब पीना अनैतिक काम हो, पर किसी विवाहिता पत्नी और माता का पर-पुरुष की अंकशायिनी होना क्या है ? उसे मैं कोरा अनैतिक काम नहीं कह सकता। वह एक भयानक अपराध है और उसका दण्ड मृत्यु है। तब क्या मैं रेखा को मार डालूं ? रेखा को ? जिसे मैंने प्राणों से भी बढ़कर प्यार किया, जिसके लिए मैं पागल बन गया, जिसके बिना मुझे न दिन में चैन न रात को नींद, जिसके नरम-गरम आलिंगन की स्मृति से प्राण उन्माद से भर जाते हैं, जिसकी मधुर वाणी और प्यार-भरी चितवन प्राणों में नवजीवन फूंकती रही है, उसे मैं कैसे मार डाल सकता हूं ?

तब अपने ही को क्यों न खत्म कर दूं ? आजकल तो मरने में जरा-सा भी कष्ट नहीं होता। लम्हे-भर में प्राणपखेरू उड़ जाते हैं। यही शायद ठीक होगा। इससे रेखा के मार्ग का रोड़ा हट जाएगा। उसका [illegible]। वह खुशी से राय के साथ रह सकेगी और [illegible] हो जाएगा। मैं रेखा के बिना नहीं रह सकता। क्या

कहूं, देखो, देखो, कलेजे में दर्द उठा। ग्राह, ग्राह, कौन, कौन यह मेरी पसलियां मेरे सीने में खींच रहा है? ग्रोह, ग्ररे भाई ठहरो। इतने जालिम न बनो, मैं ग्रभी जिन्दा हूं। जिन्दा ग्रादमी की पसली उसके सीने से भला इस बेरहमी से निकाली जाती है! ग्रोफ, ग्रोफ, ग्रजी बहुत दर्द है, बहुत—बहुत!

इसकी एक दवा है। ग्रभी यह दर्द काफूर हो जाएगा। यह इस दराज में दवा रखी है। निकालकर देखू? यही है, यही, ज़रा-सी काली काली चीज़ है, मगर बड़े काम की है। ग्राज तक मैंने कभी इसे इस्ते माल ही नहीं किया। खिलौना बनी पड़ी रही इसी दराज में। ग्राज शायद काम ग्रा सकेगी? गोलियां कहां हैं। ये रहीं, भर लेता हूं। पूरी बारह गोलियां मैंने भर ली हैं, पर मेरा ख्याल है मेरे लिए एक ही काफी है! मुंह में लगाकर घोड़ा दबा दूंगा, बस सब काम ग्रपने-ग्राप ही हो जाएगा। किंतु चाहे जो भी हो, रेखा बेवफा भले ही हो गई हो, पर वह मेरे लिए रोए बिना तो नहीं रहेगी। मेरे जैसा दिलदार ग्रादमी उसे मिलेगा कहां?—हां, हा, मैं ग्रपने कसूरों पर विचार कर रहा था। मैं ग्रपनी शराब पीने की ग्रादत की बाबत कह रहा था जिसने रेखा को मुझसे पृथक कर दिया।

पर इतनी ही तो बात नहीं है। उन किताबों में मैंने पढ़ा था। ग्रौरत ग्रकेली नहीं रह सकती। मैं कुबूल करता हूं कि मैं ग्रपने कामों में डूबा रहता था। मेरा काम भी तो ज़िम्मेदारी का था। रेखा को प्रतीक्षा करनी पड़ती थी, सो क्या हुग्रा! क्या मनुष्य का जीवन भोग विलास ही के लिए है? नहीं, नहीं, मनुष्य के बहुत से ज़िम्मेदारी के महत्वपूर्ण काम हैं जिनका सम्बंध समाज के जीवन से है। भोग विलास जीवन का उद्देश्य नहीं है, जीवन को कायम रखने का भोजन है। इतनी सी बात रेखा ने नहीं समझी। नहीं, नहीं, कसूर मेरा नहीं, रेखा का है। फिर मैं दण्ड क्यों भोगू? ग्रपनी जान क्यों दू?

तब फिर क्या करूं? रिवाल्वर तो मेरा तैयार है, उसमें बारह गोलियां भरी हैं; ग्रब तो बस ज़रा से साहस की ग्रावश्यकता है। नहीं, नहीं, निर्णय करने की ग्रावश्यकता है। यह ठीक है कि मैं बेकसूर हूं, पर यह न्याय-फैसला कहां हो रहा है ग्रसल बात तो यह है कि मैं रे

के खिलाफ़ कोई गलत कदम नहीं उठा सकता, और मैं रेखा के बिना जी भी नहीं सकता। रेखा की बदनामी कानों से सुन भी नहीं सकता। पर-पुरुष के अंक में उसे देख भी नहीं सकता। इसलिए यह मृत्यु दंड नहीं, दवा है। दवा के तौर पर मुझे एक गोली खा लेनी चाहिए।

हां, हां, मुंह में नाल डालना ठीक होगा। या कनपटी पर ही निशाना साधूं ? कहीं ऐसा न हो निशाना चूक जाए, और मैं केवल ज़ख्मी ही होकर रह जाऊं; मरूं नहीं ! मुंह में ठीक है; हां, इसी तरह—यहीं बस।

कौन ? कौन ? कौन द्वार खटखटा रहा है ? अरे ये तो रेखा का स्वर है।

"खोलो, खोलो, दरवाज़ा बन्द करके वहां क्या कर रहे हो ?"

"···अरे तुम हो रेखा ? अच्छा, अच्छा ! ठहरो, खोलता हूं द्वार ! ज़रा ठहरो, ज़रा ठहरो, ज़रा···"

लेकिन ! यह तो एक सेकण्ड का ही काम रह गया। ख़त्म ही क्यों न कर दूं !

"खोलो भई, दरवाज़ा खोलो।"

"खोलता हूं, खोलता हूं।"

चलो एक बार फिर रेखा को आंख भर देख लूं। फिर यह क्षण तो चाहे जब आ जाएगा। अभी इसे दराज़ में रख दूं। कोई बात नहीं, कोई बात नहीं। रिवाल्वर दराज़ में रख देता हूं। दरवाज़ा खोल देता हूं।

सुनीलदत्त

"दरवाज़ा बन्द करके क्या कर रहे थे ?"

"ही ही ही, आराम कर रहा था। आराम ! समझती हो न, आराम !"

"लेकिन यह चोट कैसी है ? सारा सिर ख़ून से भर गया है !"

"ख़ून से ? ठीक कहती हो तुम रेखा। मेरे जिस्म में ख़ून बहुत है।"

और रेखा ने यत्न से ख़ून धोया है, ज़ख्म साफ़ किया है, पट्टी बांधी है। वही नर्म-गर्म हथेलियां हैं। वही चम्पे की कली के समान उंगलियां हैं, वही लालसा से फूले हुए लाल-लाल होंठ हैं। बड़ी तत्परता से, ममता से पट्टी बांध रही है। भला इस प्रेम की पुतली पर कैसे गोली चलाई जा सकती है ! कैसे इसे मारा जा सकता है ! कितने भोलेपन से बात करती है ?

"चोट लगी कैसे ?"

"गिर गया मैं, आलमारी से टकरा गया।"

वह पट्टी बांध रही है, और पूछ रही है—

"कैसे टकरा गए ?"

"ही, ही, नशे के झोंक में मैंने समझा तुम हो। आलिंगन में ले लिया, सिर टकरा गया।"

"इतनी क्यों पीते हो तुम ?"

"बेशक, बुरी बात है ! है न ?"

"ख़ैर, अब ज़रा हाथ-मुंह धो लो। चाय तैयार है।"

"तो मैं भी तैयार हूं, बस चुटकी बजाते काम हो जाएगा। ही—ही—ही !"

भरा हुआ है। वह शायद कांप रही है। मैं
डरती हो ?"

"मैं तुमसे कुछ बातें करना चाहती हूं। मुझसे

"खूब बातें करो। लेकिन और पास खिस

"सचमुच तुम मुझे डरा रहे हो।"

अब फिर मेरी हंसी बिखर गई। मैंने कहा :"

"मेरा हाथ खाली है, फिर क्यों डरती हो ? के

ही "खैर, उन बातों को जान दो। लेकिन बात कह

"मैं - मैं बेवफा हूं।"

"बस ?"

"अब हम एक साथ नहीं रह सकते।"

"ठीक है। और ?"

"तुम मेरे साथ कैसा बर्ताव करोगे यह बता दो। मैं सब कु
कर लूंगी।"

"बहुत गम्भीर बात है। पर मैं कहता हूं—कहता हूं, तुम्हें मु
डरने की जरूरत नहीं है।"

"तो मैं साफ-साफ बातें कह दूं ?"

"कह दो।"

"मैं राम को प्यार करती हूं।"

"मैं समझ गया। ठीक है। लेकिन इतने जोर से मत बोलो रेखा
डार्लिंग। कोई सुन लेगा।"

"तुम मुझे तलाक दे दो। मैं उनसे शादी कर लूंगी।"

"शादी की बात बहुत बढ़िया है! बाजे बजेंगे, शहनाई बजेगी—
मजा रहेगा। तो फिर ?"

"तुम उत्तेजित होगे तो मैं कुछ न कर सकूंगी।"

"यह भी ठीक है। लेकिन मैं···मैं सोना चाहता हूं।"

"पर अभी मेरी बात पूरी नहीं हुई।"

"तो क्या हर्ज है, अभी जिन्दगी भी तो पूरी नहीं हुई।" और मैं
लड़खड़ाते पैरों से चलकर शयनागार में पड़ गया हूं। खूब सोया हूं। और
अभी आंख खुली है। तबियत तो मेरी ठीक है। ऐसा प्रतीत होता है, रेखा

[illegible] मुझे [illegible] को क्या ख़बर है? और [illegible]
[illegible] ही चुकी है। [illegible]
[illegible] है कि मैं
[illegible] विचार नहीं किया? मुझे [illegible]
कहाँ तक [illegible] है। क्या राज ने रेखा को [illegible]
[illegible]! क्या रेखा कभी पलटकर राज के पास गई? परन्तु इस
[illegible] करने का ढंग गलत रहा है! किन्तु अब मुझे बहुत-
सी बातें याद आ रही हैं, और कुछ बातों का अब नयी समझ
[illegible] अब समझ रहा हूं। राज बड़ा चालाक और धूर्त है। मेरी रेखा
[illegible] है। वह [illegible] है। यदि मैं उन दोनों में से [illegible]
[illegible] रेखा को ही मिलेगा। वह निराधार रह जायगी। मेरी
[illegible] के बाद उसका वह सहारा भी छिन जायगा जिसके लिए उसने
अपना सतीत्व भंग किया।

मुझे अब बातों पर पूरे ध्यान से विचार करना पड़ेगा। रेखा ने यह तो कह ही दिया कि वह राज को प्यार करती है। न करती तो मैं मैं जान गया था कि वह मुझसे विच्छेद करके उससे शादी करने को बेचैन है।

मैं उसके मुंह से यह बात सुन सका। अच्छा ही हुआ कि मैंने उस पर आक्रमण नहीं किया यहां चला आया। ईर्ष्या-द्वेष से क्या लाभ है? मैं एक बार राज को पूछ लूं कि वह रेखा से शादी करने को तैयार भी है!

यदि है तो मैं वहीं अपने को गोली मारकर खत्म कर दूंगा और रेखा और उसका रास्ता साफ कर दूंगा; पर यदि उसने इन्कार किया तो उसीको मार डालूंगा

सोकर उठने के बाद वे शान्त और स्वाभाविक थे; फिर भी उनके नेत्रों में न जाने कैसा भाव था ! मैं सुबह ही उनके रंग-ढंग से ऐसी डर गई थी कि अब कुछ कहने का मुझमें साहस नहीं रहा । जब वे आए, चुप थे । उन्होंने मेरे साथ चाय पी, प्रद्युम्न को गोद में बैठाकर प्यार किया। उनकी यह ममता, सहनशीलता और प्रेम देखकर तो मेरा कलेजा मुँह को आने लगा । हाय, कैसे कष्ट की बात है कि मुझे इस पुरुष को—पति को छोड़कर जाना पड़ रहा है ! पर मैं यह भी कैसे सकती हूं ? उनकी पत्नी मैं रही कहां ?

मैं अपने मन का चोर भी आपको बता दूं । रात से मैं शंकित हूं । वे ब्याह को क्यों बार-बार टालते हैं ? जो हो, मैं वापस लौट सकती नहीं —यहां तक पहुंचकर । आखिर मैंने यह बात उनसे कह दी । झट क्यों न गई यह जबान ? वे सुनकर कुछ अजब-सी चेष्टा करने लगे । क्या वे पहले से ही सब बातें जानते थे ? सुबह तो उनकी प्रत्येक चेष्टा उन्मत्त जैसी थी ।

जब तक चाय पीते रहे, प्रद्युम्न की ओर बड़े ध्यान से देखते रहे । क्यों देख रहे थे वे भला इस तरह ? शायद वे कुछ पूछना चाहते थे कोई गम्भीर मर्मभेदी बात । परन्तु पूछ न सके, केवल मुस्कराकर रह गए । शायद उन्हें इस बात का इत्मीनान नहीं हुआ कि मैं सच-सच उन बातों का जवाब दूंगी । एकाएक ही उन्होंने कोई पिक्चर देखने का प्रस्ताव किया । मैं नहीं न कह सकी । हम पिक्चर देखने चले । रास्ते भर वे हंस-हंसकर बातें करते रहे, प्रद्युम्न की बातों का जवाब देते रहे । बाजार से उसे बहुत-से खिलौने दिलवाए । रुपये वे इस तरह फेंक रहे थे जैसे रद्दी कागज के टुकड़े हों । मैं हैरान थी । मुझसे उन्हों

हम डिनर कर रहे हैं। अभी एक ही दौर खत्म हुई है कि वे उठ खड़े हुए। उन्होंने कहा, "देखो, एक बहुत जरूरी काम याद आ गया, मैं अभी आता हूं। तुम बैठो।" और वे बिना मेरी ओर देखे सरपट हुए चले गए। मैं रोकना चाहती थी वे नहीं रुके। "अभी आता हूं, अभी आता हूं," कहते हुए चले गए।

प्रद्युम्न का मन तो डिनर में लग रहा है। पर मेरा मन दत्त में है। कहां चले गए वे? ऐसी कौन-सी बात याद आ गई? बड़े आश्चर्य की बात है यह। डिनर खत्म हो रही है, पर दत्त का पता नहीं है। मेरी बेचैनी बढ़ रही है। मन में यह कैसी घबराहट उठ रही है! क्या बात है? कहां चले गए वे?

डिनर खत्म हो गई। दत्त नहीं आए। नौकर प्रतीक्षा कर रहा था। मैंने पूछा, "साहब आए?"

उसने हैरानी से पूछा, "कौन साहब? दत्त साहब या राय?" मुझसे मेरी आंखें जल उठीं। ये कमीने नौकर भी मेरा उपहास करते हैं! पर मैंने शान्त होकर कहा, "दत्त साहब को पूछती हूं! देखा नहीं, कहां है?" पर नौकर ने आहिस्ता से जवाब दिया, "दत्त साहब हुक्म दे गए हैं कि मैं टैक्सी लेकर आपको घर ले जाऊं। कार वे ले गए हैं।"

"लेकिन कहां गए हैं दत्त इस तरह एकाएक बहाना बनाकर? अच्छी बात। एक टैक्सी ले आओ।" नौकर टैक्सी लाता है और मैं टैक्सी में बैठ जाती हूं।

घर भी वे नहीं पहुंचे हैं। मेरा मन भय से भर उठा है, और मेरा कलेजा मुंह को आने लगा है। न जाने क्या होनेवाला है। लेकिन आखिर वे गए कहां? एक-एक क्षण मुझे पहाड़ लग रहा है।

दस बज रहे हैं। दत्त नहीं आए। खाना लिए प्रतीक्षा में बैठी हूं। ऐसी प्रतीक्षा मैंने जीवन में कभी नहीं की थी। मेरे प्राण व्याकुल हो रहे हैं। जीवन सूना हो रहा है। क्या बात है यह, मैं नहीं जानती हूं। धरती तप्त तवा लग रही है, पैरों के तलुए जले जाते हैं। कभी घर में, कभी बरांडे में, कभी लान में आकर देख रही हूं। कहां हैं दत्त? उनके बिना सारी दुनिया आज सूनी नजर आ रही है। चांद गायब है। तारे सब झड़ चुके। चिराग बुझ गए। अन्धकार है—बाहर दुनिया में भी

और बैंक-एकाउण्ट तुम्हारे नाम प्रथम ही कर दिया है। आओ, और पास आओ। मेरे अंक में बैठ जाओ। उसी भांति जिस भांति ब्याह के बाद बैठती थीं। अपनी भुजवल्लरी मेरे कंठ में डाल दो और एक प्यार दे दो, बस एक प्यार। प्यारी रेखा, डार्लिंग, स्वीट! आओ, आओ। हां, हां, एक बात बता दो, प्रद्युम्न···खैर, जाने भी दो। अब एक क्षण-भर के लिए यह बात जानकर भी क्या करूंगा?···

"आओ, आओ मेरी प्यारी रेखा। इतनी निकट आ जाओ कि मेरा हृदय अपनी अन्तिम धड़कन तुम्हारे हृदय की धड़कन से मिला दे।···

"लेकिन, लेकिन अरे, यह तो बेहोश हो गई। धड़ाम से फर्श पर गिर गई। सिर फट गया इसका। किसे पुकारूं? किसे···ओफ!"

सुनीलदत्त

सब कुछ विचार करके ही मैं घर से निकला था। सब बातों पर आगे-पीछे सोचकर मैंने अपना अंतिम निश्चय कर लिया था। मैं नादान नहीं था, सब बातों को ठीक-ठीक समझता था। ऐसा तो मैं ज्ञान नहीं उठा सकता था। बहुत चाहा कि उसे भूल जाऊं, उसका प्रेम मेरे हृदय से निकल जाए, पर इसमें मुझे सफलता नहीं मिली। मेरे जैसे व्यक्ति के लिए यह बहुत ही विचित्र बात है कि मैं एक औरत के लिए अपने समूचे जीवन की बलि देने को तैयार हो गया। पर क्या किया जा सकता था। मैंने समझदारी और धीरज से काम लिया, और अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की भरसक चेष्टा की। मैंने अपने मन के गहरे विरोध को काबू में रखने के लिए हर तरह मन पर नियन्त्रण रखा। स्वीकार करता हूं, कुछ ऐसे लोग हुआ करते हैं जिन्हें ज्ञान-बुद्धि का इतना प्रबल आत्मबल होता है कि वे सब अनुभवों को बर्दाश्त कर लेते हैं। परन्तु ये सब बातें ऐसी हैं जो सामाजिक दृष्टि से दूसरों से छिपती नहीं। आप शायद यह विश्वास न करेंगे कि मुझे कुछ बातें अपने-आपसे भी छिपानी पड़ीं या मुझे अपने-आपको धोखे में रखना पड़ा—क्योंकि उन बातों को मैं अपने लिए ठीक नहीं मानता था। मैं स्वीकार करता हूं कि जीवन के मानसिक पहलुओं में मेरी कभी दिलचस्पी नहीं रही, और मन के मनोवैज्ञानिक ढांचे से मैं अपरिचित ही रहा। मन में वस्तु की अनुभूति, विचार और इच्छा के क्रम होते हैं। उनमें अचेतन इच्छाएं और अचेतन विचार भी होते हैं। उनमें बहुत से काम-आवेग होते हैं और ये काम-आवेग मनुष्य के मन में कला-संस्कृति और जीवन में उत्साह एवं आनन्द प्रदान करते हैं। इन आवेगों को वश में करना कठिन काम है। जो आदमी सभ्यता के निर्माण में भाग ले रहा हो उसमें यदि

काम-आवेगों का विरोध उठ खड़ा हो तो वह उस व्यक्ति की क्रियाशक्ति को दूसरी ओर मोड़ देगा—यह एक बहुत बड़ा खतरा है। काम-आवेग या यौन-जीवन का महत्त्व सबके सामने खोलकर नहीं रखा जा सकता। यह सामाजिक हितों के विरुद्ध है। इसीसे इस मामले में संयम का सहारा लेना पड़ता है। पर संयम की भी तो अन्ततः सीमा है। काम-आवेग और संयम की सीमाएं जहां टकराती हैं वहां कुछ गलतियां होती हैं और वे कभी-कभी ऐसी भारी हो उठती हैं कि मनुष्य का सारा जीवन क्रम ही अस्त-व्यस्त हो उठता है अथवा मनुष्य आत्मघात या खून भी कर बैठता है।

देखिए, खून के नाम से आप डरिए मत। इस वक्त मैं इस स्थिति में हूं कि मैं खून करने की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर विचार करने चला हूं। मैं कोई मूढ़, क्रोधी और ईर्ष्यालु पति नहीं हूं। एक सहृदय और ज्ञानवान, अपनी सब ज़िम्मेदारियों से परिचित पति हूं। तो सुनिए—अब मेरी बात शायद आप फिर न सुन सकें। कुछ ऐसी अवस्थाएं आती हैं, जब महत्त्वपूर्ण बातें बहुत हल्की दिखाई देती हैं। पर उनके खून से हम बड़ी-बड़ी बातों के निर्णय पर पहुंचते हैं। उस समय हम उनकी ओर देखते भी नहीं। हम यह नहीं सोचते कि ये मामूली बातें कार्य-कारण के नियम से बंधी हुई हैं, और वे जिस रूप में घटित हुई हैं उससे दूसरे रूप में भी घटित हो सकती हैं, जिनसे जीवन-मरण का संकट आ उपस्थित होता है।

यौन जीवन का अर्थ है—अनुचित, अर्थात् जिसकी चर्चा नहीं करनी चाहिए। परन्तु सब काम-वृत्तियां पतन का चिह्न हैं, यह मैं नहीं मानता। संभोग के आलम्बन से अनियमित सम्बन्ध हम आदिम जाति से लेकर आज की सभ्यता तक में वैसा ही देखते हैं। आदिम काल से लेकर आज तक यौन-प्रवृत्तियों के समूह में—सन्तुष्टि और अस्वीकृति के बीच द्वन्द्व मौजूद रहा है। प्रकृत यौन तृप्ति की कुण्ठा से मानव-जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। काम-क्षुधा एक भीषण भूख है। यह वह बल है कि जिसके द्वारा नैसर्गिक यौन वृत्ति उसी प्रकार अपनी अभिव्यक्ति करती है जैसे पोषण की निसर्ग-वृत्ति भूख के द्वारा अपनी अभिव्यक्ति करती है, यौन उत्तेजन और संतुष्टि के बीच बहुत-सी बातें हैं। ये

शारीरिक भूखें हैं, और मानसिक भी, सामाजिक भी हैं और [illegible] भी। इन भूखों से जीवन संघर्ष की [illegible] है। [illegible] यह अनुशासन-[illegible] का पूजा में परिवर्तन हो जाना, प्रेम और पूजा का [illegible] जीवन का सहारा बनता है। मेरी समझ में [illegible] विवश [illegible] में परिवर्तित हो जाते हैं जो इस [illegible] का जिनका परिणाम है।

पहले मन आता आत्महत्या कर लूं। लेकिन कृष्णचन्द्र को श्रीम के साथ उचित है जिसने पुरुष धर्म को पतिव्रता को भंग किया है। कानून इस संबंध में कोई सहायता नहीं करता। कानून कहता है, कोई हर्ज नहीं, तुम्हारी स्त्री तुम्हारे पास रहना नहीं चाहती। तुमसे प्रेम नहीं करती तो कोई बात नहीं है। उसे पूरा हक़ है जाने दो जिससे वह प्रेम करती है, और तुम कोई भी दूसरी औरत की तलाश ढूंढ़ लो, जो तुम्हें प्यार करे। परन्तु मैं इस कानून को कैसे स्वीकार कर सकता हूं! यह पत्नियों की अदल-बदल बिल्कुल वाहियात वस्तु है। फिर केवल प्यार ही तो पति-पत्नी के बीच का माध्यम नहीं। पारिवारिक और सामाजिक बंधन है। नहीं, ऐसा व्यक्ति दुनिया में ज़िन्दा नहीं रहना चाहिए: दूसरों की पत्नियों को हरण करता है, पुरुष की पवित्रता और निष्ठा को नष्ट करता है। मैं उसे जान से मार डालूंगा। परन्तु वह मेरा मित्र था उसका प्यार याद आता है। बीते दिन याद आते हैं जब हम दोनों घूमते थे, खाते-पीते थे, मौज-मज़ा करते थे।

तो न सही। मैं उससे कहूंगा कि वह रेखा से ब्याह कर ले और अपने को गोली मारकर आत्महत्या कर लूंगा। बस, बखेड़ा खत्म। मेरे भी सब तकल्लुफ़ खत्म और रेखा की बाधा दूर।

ओह, यह मेरे सिर में कैसे तेज चाकू चल रहे हैं! लेकिन अब मैं बेहोश होना नहीं चाहता। रिवाल्वर ठीक है। गोलियां भरी हुई हैं परन्तु आवश्यक है कि शरीर और मन में पूरी स्फूर्ति हो। मैंने डटकर स्नान किया है, कपड़े बदले हैं। ठीक-ठीक शरीर-विन्यास किया है। और मैं हंसता हुआ रेखा के साथ चाय पी रहा हूं। पिक्चर देखने का मैंने ही प्रस्ताव किया है।

रेखा भीता-चकिता हरिणी की भांति चौकन्नी है। उसकी मनो-

दशा देखकर दुःख होता है। भला मेरे रहते रेखा की यह हालत! परन्तु अफसोस, आज तो वह मुझीसे डरी हुई है। पति—जिसके अंक में स्त्री संसार के सभी भयों से निर्भय और सभी आनन्दों से भरपूर रहती है, सो रेखा उसी पति से भयभीत है। न मैं उसे ढाढस दे सकता हूं—और न वही मुझसे अभय मांग सकती है। उसकी दशा तो उस पशु के समान है जिसे भान हो गया हो कि अभी उसका वध होनेवाला है। कितनी करुणापूर्ण है उसकी दृष्टि! देखी नहीं जाती। कलेजा मुंह को आ रहा है।

शायद उसके मन में पश्चात्ताप का उदय हुआ है। पर अभी तक बिगड़ा कुछ भी नहीं है, यदि वह पश्चात्ताप करे, यदि वह फिर वैसी ही अमल-धवल शतभौन कमल के समान उज्ज्वल हो जाए। उसके अधर फड़क रहे हैं। उच्छिष्ट—अभागे अधर। वह मुझ पति से भी डरते-डरते संकोच से बात करती है—बिलकुल जैसे पराई हो।

काश कि फिर वे दिन लौट आते! काश कि आज कोई शैतान आकर कह दे—अरे दत्त, वह सब तो सपने की बातें थीं। यह तेरी रेखा तो वही है—वैसी ही है। इसे अंक में भर। इसका चुम्बन ले। किन्तु खैर, अब इन बातों में क्या रखा है!

चाय खत्म हो गई है। और हम लोग पिक्चर देखने जा रहे हैं। प्रद्युम्न बहुत खुश है। हां, प्रद्युम्न की बात तो रह जाती है। प्रद्युम्न किसका बेटा है? क्या मेरा है? कौन जाने! पुंश्चली औरत का क्या भरोसा! अब तो बेटे भी विश्वसनीय नहीं रह जाएंगे। पत्नियों की एकनिष्ठता नष्ट हो जाएगी। समाज ने, कानून ने स्त्रियों को अदल-बदल की छुट्टी दे दी है अब तो। अब तो संसार के सब पुत्र संदिग्ध हो गए, अपवित्र हो गए, पिता के प्यार और विश्वास से वंचित हो गए! इस पुत्र का पिता कौन है, इस बात को तत्त्वतः केवल एकमात्र वही औरत जानती है, जो झूठी हो चुकी, विश्वासघातिनी हो चुकी, पर-पुरुषगामिनी हो चुकी! कौन पति उसपर पतियाएगा?

जी चाहता है पूछूं रेखा से। शायद सच्चा जवाब दे दे! शायद प्रद्युम्न मेरा ही पुत्र हो, मैं ही इसका पिता होऊं! अब तक तो मैं अपने ही को पिता समझता रहा था। पर यह मैं कहां जानता था कि रेखा

बेवफा है, पर-पुरुषगामिनी है। अब तो जैसे कोई जंजीरों से जकड़कर मेरे मन को बांध रहा है। प्रद्युम्न की तरफ बढ़ने ही नहीं देता। पर बेचारे बालक को क्या पता है इन सब बातों का! वह तो आज बहुत खुश है। इतने दिन से वह परेशान था—मैं बाहर गया था, रेखा घर से बेघर हो रही थी। बेचारा बच्चा मां-बाप दोनों को खोकर अकेला रह गया। आज उसे प्राप्त है—मां भी, बाप भी। पर शायद प्यार न बाप का प्राप्त है न मां का। मेरे मन में तो शंका का भूत सवार है। और रेखा यदि उसे प्यार करती तो घर से बेघर क्यों होती! कुछ अपराध था तो मेरा हो सकता था, बेचारे बालक का तो नहीं! पर जाने दो इन बातों को। पुराने अभ्यास ही से सही, मुझे प्रद्युम्न को प्यार करना चाहिए। रेखा को तो मैं अभी भी प्यार करता हूं—बेवफा को, कुल-कलंकिनी को। फिर बालक ने क्या बिगाड़ा है? वह बात भी मैं पूछ लूंगा, यदि मैं वापस सही-सलामत लौट आया, यदि मुझे स्वयं न मरना पड़ा। और यदि मुझे ही मरना पड़ा तो केवल कुछ घड़ी के जीवन के लिए एक और दर्द को दिल में क्यों उत्पन्न करूं!

प्रद्युम्न बहुत बातें कर रहा है, और मैं सबका उत्तर दे रहा हूं। कुछ ठीक, कुछ बे-ठीक। रात मेरे बक्स में बहुत चीजें उसे मिल गई हैं। मेरे आग्रह से रेखा ने बड़े संकोच से वह कीमती साड़ी पहनी है जो मैं दूर पर जाकर खरीदकर लाया हूं उसके लिए। क्यों साहब? संकोच से क्यों? चाव से क्यों नहीं? खैर, जाने दीजिए।

शोफर कार ले आया है। अजब ढंग से वह देख रहा है हम लोगों को। जैसे वह राजदां हो। लगता है वह मन ही मन मुस्कराकर हंस रहा है, मानो कह रहा है —अरे, बड़े गधे, लानत है तुम्हारा! तू इतना बड़ा आदमी है तभी इस हरामजादी को सजा-बजाकर ले जा रहा है, हंसते-हंसते बातें करता हुआ। अरे, हम छोटे आदमी यह सब बर्दाश्त नहीं कर सकते। मैं होता तो गंडासे से सिर काट डालता छिनाल का। छिनाल औरत का भी भला क्या पतियाव!

... आंखें कह रही हैं और मैंने उससे आंखें चुरा लीं ... -भरी नजर से मेरी ओर देख रहा है। सब सब कुछ ... जानना चाहिए था—वह मैं नहीं जानता था।

यह बाज़ार आ गया। कनाट प्लेस। पहले जब रेखा यहाँ मेरे साथ आती थी दर्जनों चीज़ें खरीदने का प्रोग्राम बनाती हुई, तो कितनी अच्छी लगती थी तब ! किन्तु आज तो वह चुप है। अजी, रेखा कहाँ है यह ! यह तो रेखा की लाश है।

"चलो रेखा, चलो बच्चे, आओ, खरीदो ! अपनी पसन्द की चीज़। और रेखा, ज़रा इधर तो आओ। एक चीज़ मैंने पसन्द की है तुम्हारे लिए। देखोगी तो खुश हो जाओगी।" रेखा है कि उसके होंठ सूख रहे हैं। आँखों की पुतलियाँ घूम रही हैं। वह डर रही है। और मैंने एक हीरे की अंगूठी खरीदकर उसकी नाज़ुक उंगली में डाल दी है। सो साहब, मेरी सगाई हो रही है रेखा से। खुशियाँ मनाओ, बगलें बजाओ। आओ आप सब लोग आओ, मिठाइयाँ खाओ। खुशी का मौका है, आनन्द का अवसर है। सगाई हो रही है मेरी रेखा से !

क्यों ? आप चौंक क्यों गए ? क्या मैं बूढ़ा हो गया हूँ ? अभी तो मैं चालीस का भी नहीं हुआ ? रेखा तीस के पेटे में है। हम दोनों यौवन से भरपूर हैं। बराबर की जोड़ी है। हमारी सगाई क्या ठीक नहीं है ? आप हँसते हैं। हँसिए साहब, हँसिए, यह हँसने ही का मौका है। मैं भी हँस रहा हूँ। हा हा हा हा।

लेकिन रेखा चुप है, शरमा रही है, अथवा डर रही है, शर्मीली नई-नवेली दुलहिन की भाँति। न जाने क्यों फिर सिर में चाकू चलने लगे। अरे आ गये रे सिर, ज़रा धीरज धर। अब कुछ ही घड़ी की बात है। सारा पूरा इलाज हो जाएगा। सिरदर्द का अचूक इलाज मेरी जेब में है।

प्रद्युम्न ने बहुत-सी चीज़ें खरीदी हैं। रेखा उसे रोक रही है और मैं बढ़ावा दे रहा हूँ — खरीदो, खरीदो बच्चे ! खूब खरीदो। लेकिन यह क्या बात है—बेटा कहते मेरी ज़बान कटती है। खैर, खरीदो बच्चे, खरीदो, खूब। अभी जेब में रुपये हैं, बहुत हैं। घड़ी-भर बाद ये सब मेरे किस काम आएंगे भला ! सभी को खर्च कर दिया जाए।

सिनेमा आ गया। पिक्चर कौन-सी है, यह जानने से मुझे क्या सरोकार है ? मैंने टिकट खरीदे हैं। टिकट लेकर चल दिया, रेज़गारी लेना भूल गया। वह पुकार रहा है—रेज़गारी वापस लीजिए साहब।...

में एक तौलिया लिपटा हुआ था। वह गुसल करके निकला था। मैंने कहा, "राय, मैं आ पहुंचा।"

वह घूमकर खड़ा हो गया। भय से उसका चेहरा फक हो गया।

"डरो मत, डरो मत! यह कहो, क्या तुम रेखा से शादी करने को तैयार हो? क्या तुम उसे और उसके बच्चे को आराम और वफादारी से रख सकोगे?"

लीजिए साहब, क्या दिलचस्प सवाल मैं कर रहा हूं! अभी-अभी तो मैं रेखा को सगाई की अंगूठी पहनाकर आया हूं, और अभी यह सवाल कर रहा हूं। मगर इसमें आश्चर्य की बात क्या है! दुनिया में बहुत-सी दिलचस्पियां हैं। एक यह भी सही।

"हां, राय, जवाब दो।"

राय एकटक मेरी ओर देख रहा है। एक शैतानी मुस्कान उसके होंठों पर छा गई, वह कहता है:

"क्या रेखा ने आपसे कुछ कहा है?"

"सब कुछ।"

"खैर, अच्छा ही है।"

"कहो, तुम उससे शादी करोगे?"

"नहीं।"

"क्यों नहीं? क्या तुमने रेखा को घर से बेघर नहीं किया? उसे तुमने व्यभिचारिणी नहीं बनाया?"

"वह स्वयं मेरे सिर आ पड़ी। वह तुम्हें घृणा करती है।"

"और तुमसे प्रेम करती है! तो तुम उससे शादी क्यों नहीं कर लेते?"

'तब तो जो-जो औरतें मेरे साथ सोती हैं, मुझे उन सबसे शादी करनी पड़ेगी?"

"बदमाश, गुण्डा!" और मैंने रिवाल्वर निकाल लिया है। राय की आंखें फैल गई हैं। उसने कुछ कहना चाहा, पर होंठ हिलकर रह गए हैं। मुंह से बात नहीं फूटती है। वह बाथरूम की ओर खिसक रहा है।

मैंने कहा, "हिलना नहीं। रिवाल्वर में बारह गोलियां हैं।"

और वह चीते की तरह मुझपर टूट पड़ता है। उसने मेरी कलाई पकड़ ली है। हम गुथ रहे हैं। यह प्राणों का युद्ध है। मैंने उसे धर पटका है। उसका सिर फट गया। वह घायल सांड की भांति कराह रहा है।

मैंने रिवाल्वर को फिर जांच लिया है। मेरी उंगली घोड़े पर है। मैंने उसे दबोच रखा है।

"अब बोल, शादी करेगा?"

"नहीं।"

"नहीं?"

"नहीं।"

"तो ले।"

धांय!

धांय!!

धांय!!!

सब खत्म। खेल खत्म। मर गया कुत्ता। गोली ने भेजा फो दिया। कितना खून निकला है!

और एक बार देखकर मैं चल देता हूं। बेबी चीखती हुई आ है। एक नौकर भी है।

"हाथ ऊपर करो!" मैंने कड़ककर नौकर से कहा। नौकर हा उठाकर खड़ा हो जाता है।

"रास्ता छोड़ो!" मैं बेबी को एक ओर धकेलते हुए नीचे आता हूं

चौकीदार और माली गाड़ी की राह रोके खड़े हैं। मैंने रिवाल्व दिखाकर उन्हें डरा दिया है।

और मैं घर लौट रहा हूं। सामने की घड़ी में ग्यारह बज रहे हैं अभी रिवाल्वर में तो गोलियां और हैं। क्या हर्ज है एक और खर्च क दूं! यहां कौन मेरा हाथ रोकेगा! लेकिन एक बार रेखा को और आंख भर देख लूं!

मैं घर आ गया हूं। रेखा पागल की भांति दौड़ी आई है। उसके चेहरे पर रक्त की एक भी बूंद नहीं है। मैंने उसे बता दिया है कि मैंने ... डाला है। मैं उससे अनुरोध कर रहा हूं कि वह आना

एक नर्म-गर्म आलिंगन मुझे दे, और मेरे कंठ में मनचाही डालकर मुझे गोली मार दे। कुछ ज्यादा दिक्कत नहीं होगी, कनपटी···पर यह बेहोश हो गई है। मेरे मन की मन में रह गई। उसका सिर फट गया है।

उसे बिस्तर पर लिटाना चाहिए। मैं उठा रहा हूं। गले में भर रहा हूं।

परन्तु यह लीजिए, पुलिस आ गई। "आइए, आइए।"

"जी हां, मैंने शायद एक आदमी को गोली मार दी है। लीजिए यह रिवाल्वर है। इसमें अभी दो गोलियां और हैं। हां, हां, मैं चलने को तैयार हूं। लेकिन जरा-सा समय दीजिए। रेखा बेहोश हो गई है। इनके सिर में चोट लग गई है। जरा मैं इनके लिए···"

"क्षमा कीजिए, मिस्टर दत्त, हम मजबूर हैं। आपको अभी चलना चाहिए।"

"तब लाचारी है। चलिए साहब।" सब नौकर-चाकर आ जुटे हैं प्रद्युम्न भी जग गया है। वह रो रहा है। 'डैडी, डैडी' पुकार रहा है।

अब मैं क्या करूं? क्या करूं? क्या कर सकता हूं?

"बेटे मेरे, मम्मी का ध्यान रखना।" मेरे मुंह से निकला। आंसू भी निकले, और निकलते चले जा रहे हैं। बूढ़ा माली रो रहा है। वह रोते-रोते मेरे कदमों पर गिर गया है। मैं कह रहा हूं, "रामू, मालकिन का ध्यान रखना। अभी डाक्टर को बुला लेना। लो ये चाभियां हैं।" चाभियों का गुच्छा जेब से निकालकर मैंने उसे दिया है।

"चलिए साहब!···मैं जा रहा हूं रेखा, मैं जा रहा हूं, जा रहा हूं डार्लिंग, मैं···मैं जा रहा हूं। विदा, अलविदा!"

रेखा

घर के ही चिराग से घर में आग लग गई। अपने ही हाथों मैंने अपना सुहाग लुटा दिया! हाय रे भाग्य! इसे ही कहते हैं स्त्री-बुद्धि, सर्वसंहारकारिणी बुद्धि। पैदा होते ही मैं क्यों न मर गई! मां-बाप ने गला घोंटकर क्यों न मार डाला! जैसे सांपिन अपने ही बच्चों को खा डालती है वैसे ही मैंने सोने का घर फूंक दिया!

लाज भी मैं निर्लज्जा कहां तक करूं? अब तो घर-घर, द्वार-द्वार मेरी ही यशोगाथा का बखान हो रहा है। ऊंचे घर की बेटी और ऊंचे घर की बहू, उच्चशिक्षा प्राप्त मैं अन्त में कुतिया बन गई! दर-दर गली-गली कुत्तों के साथ मारी-मारी फिरने वाली कुतिया! हाय राम!!

कैसी भयानक है यह इन्द्रिय-वासना, जो समाज के सारे ही ढांचे को छिन्न-भिन्न कर डालती है! परन्तु एक असहाय निर्बल नारी को समाज ने किसलिए केवल वासना का माध्यम बनाकर घर में रख छोड़ा है! पुरुषों को हजार काम हैं, जिम्मेदारियां हैं। उनकी समूची चेतना, सारी ऊर्जा-शक्ति उसमें उलझी रहती है। केवल विश्राम के वक्त जब जरा मस्तिष्क खाली होता है, वासना का आनन्द वे उपभोग करते हैं; मानसिक भोजन के रूप में। पर स्त्रियां तो चौबीसों घंटे वासना में सराबोर होती रहती हैं। उन्हें न कोई काम है न जिम्मेदारियां हैं। मस्तिष्क शून्य रहता है और समूची चेतना बनाव-शृंगार और वासनामूलक प्रसाधनों और चिन्तनों में डूबी रहती है। उनका यही काम रहता है कि दिन-भर पुरुष के आगमन की प्रतीक्षा करती रहें, और रात-भर वासना की आग में जलें, भुनें। पुरुष की प्रतीक्षा पूरक रूप में नहीं, जीवनसाथी के रूप में नहीं, वासना-पूर्ति के माध्यम के रूप में। कैसी

भयानक है यह एकांगी समाज-व्यवस्था ! खराब, बहुत खराब। स्त्रियों का अविकसित मस्तिष्क, भावुक हृदय यदि वासना के आवेश में अपना संतुलन खो दे, तो यह केवल उसीका दोष नहीं है, समाज-व्यवस्था का भी दोष है।

यौन आवेग मनःशारीरिक आवेग है। इसमें एक वह शरीर-आवेग है जिसका सम्बंध जननेन्द्रियों की चरम उत्तेजना के बाद क्षरण पर सीमित है। दूसरा वह जो प्रत्येक जोडीदार में एक-दूसरे के निकट शरीर से मानसिक सम्पर्क स्थापित करता है। यौन प्रक्रिया बडी जटिल है। उसका सम्बंध मनःशारीरिक आवेग से है। घरेलू जानवरों एवं सभ्य मनुष्यों में तो यह एक सरल क्रिया है, परन्तु प्राकृतिक अवस्था में यह उतनी सरल नहीं है। आवेग की चरम प्राप्ति के लिए पुरुष को अतिशय सक्रियता और आत्म-प्रदर्शन तथा स्त्री को दीर्घ साधना और ध्यान करना पडता है। मूल लक्ष्य यौन स्फीत की वृद्धि है। वह दोनों में समान रूप से, पूर्वराग द्वारा, जो शारीरिक भी हो और मानसिक भी, होना चाहिए। इस यौन स्फीत की धीमी-तीव्र गति ही में प्रेम की डोर बंधी होती है, खिंची हुई औरत अवश अवस्था में एक पुरुष को त्याग कर दूसरे पुरुष तक पहुंच जाती है, और यह भूल जाती है कि उसका कोई सामाजिक रूप भी है या नहीं।

स्त्रियां दूरदर्शिनी नहीं होतीं। उनमें स्वाभाविक दुर्बलताएं भी हैं और मानसिक भी। इसीसे समाज ने उन्हें अपने नीति के बंधनों में कसकर बांधा हुआ है। आज तो मैं उन सब बंधनों के महत्त्व को, आवश्यकता को समझ गई हूं। कल तक ही तो मैं उन सब बातों का प्रबल विरोध कर रही थी। तब मैं नहीं जानती थी कि मनुष्य का सामाजिक संगठन ही उसके व्यक्ति के सब स्वार्थों का संरक्षण है। पर 'अब पछताए होत क्या, जब चिड़ियां चुग गई खेत !'

किन्तु अब दत्त की रक्षा कैसे की जाए ? मैं अपना शरीर, प्राण और आबरू तक दे सकती हूं। मैं जान की बाजी लगा दूंगी और प्रत्येक मूल्य पर उनके प्राणों की रक्षा करूंगी। मैंने बेबी को मिला लिया था—वह राजी भी हो गई। और हमने तय किया कि हम अपना बयान बदल देंगे। यह बयान दे देंगे कि हत्या मैंने की है। बेबी गवाही देने को राजी

शिष्ट पुरुष समझते हैं कि व्यभिचार से आदमी का ज्यादा कुछ नहीं बिगड़ता। शरीर को धो-पोंछकर साफ कर लिया जा सकता है। वे प्रेम को महत्त्व देते हैं; काम-वासना का वैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं, परन्तु वे भूल जाते हैं कि कुछ संकटकालीन परिस्थितियां भी होती हैं, जब स्त्री को, पुरुष को और कभी-कभी सबको कुर्बानियां करनी पड़ती हैं। तब सुख-सुविधा और व्यक्तिगत अधिकार नहीं देखे जाते। दुनिया में युद्ध होते रहे हैं और तब लाखों मनुष्यों को रणांगण में जूझ मरना उनके जीवन का सर्वोत्तम ध्येय माना गया है। परन्तु जीवन का सर्वोत्तम ध्येय हंसी-खुशी से जीवित रहना है, मरना नहीं। पर यह आपत्काल‍ीन धर्म है।

हो सकता है कि स्त्री-पुरुषों को गृहस्थ-जीवन में शारीरिक बाधाएं हों मानसिक बाधाएं भी हों—इतनी बड़ी, इतनी शक्तिमान कि जिनके कारण जीवन का सारा आनन्द ही खत्म हो जाए। उस समय स्त्री या पुरुष दोनों को अपने उच्च चरित्र का, त्याग और निष्ठा का सहारा लेना चाहिए, वासना का नहीं।

राय जैसे लम्पट समाज में बहुत हैं। ये लोग सभ्य समाज के कीड़े हैं, सभ्यता की मर्यादा को दूषित करनेवाले। आप उन्हें सह सकते हैं, बर्दाश्त कर सकते हैं। क्योंकि आपमें सत्साहस का अभाव है, स्वभाव की दुर्बलता आपमें है। पर मैं बर्दाश्त नहीं कर सकता। मैंने उसे बर्दाश्त नहीं किया। एक गन्दे कीड़े को मार डाला। समाज को एक अपवित्रता से मुक्त कर दिया।

अभी जेल से अदालत आते हुए मैंने देखा है अदालत के बाहर हजारों नर-नारी मेरे लिए दुआ मांग रहे हैं। खासकर नारियां बहुत उत्तेजित हैं। वे सब मेरे समर्थन में हैं। वे समझती हैं, मैंने ठीक किया —समाज के खतरे को खत्म कर दिया, नारी की पवित्रता का धब्बा पोंछ दिया। वे लोग चाहते हैं कि मैं हत्या के अभियोग से मुक्त हो जाऊं; पर यह मैं कैसे चाह सकता हूं।

इतना भारी मैंने समाज का उपकार किया है, और अपने चरित्र की प्रतिष्ठा की रक्षा की है; परन्तु कानून को अपने हाथ में लिया है। मेरे लिए वह आवश्यक था, अनिवार्य था। अब कानून अपना काम करे

मुझे उसका दण्ड दें। मैं नहीं चाहता कि लोगों के सामने यह उदाहरण कायम हो जाए कि कानून को हाथ में लेना व्यक्ति के लिए उचित है, और अनधिकारी लोग ऐसा करें।

असाधारण काम असाधारण पुरुष ही कर सकते है, जिनमें असाधारण क्षमता, शक्ति और धैर्य हो। वही असाधारण काम मैंने किया है। इसीसे मुझे अपने ऊपर, अपने काम पर गर्व है। आप कह सकते हैं कि मैंने कानून के विरुद्ध काम किया है पर आप यह नहीं कह सकते कि मैंने नीति-विरुद्ध काम किया है। आप मुझपर कायरता का आरोप भी नहीं लगा सकते, जोकि एक अत्यन्त घृणित आरोप है। बस यही मेरे लिए यथेष्ट है।

आप कहेंगे, रेखा का भी तो दोष है। वह भी तो वासना के बहाव मे बह गई। उसने तो कुलटा का आचरण किया, पति से विश्वासघात किया, पर-पुरुष को अपना देह सौंप दिया। उसे क्यों नहीं मार डाला?

ठीक है, आप शायद यही करते। राय को मार डालने का शायद आपको साहस न होता। पर मैंने ऐसा नहीं किया। रेखा पथ-भ्रष्ट हो गई। कुलवधु की मर्यादा उसने भंग की, मेरे साथ विश्वासघात किया। सब ठीक है। उसके विरुद्ध ऐसे ही और भी आरोप लगाए जा सकते, हैं, जो साधारण नहीं हैं। समाज और गृहस्थ-धर्म की पवित्रता को भंग करने की दृष्टि से वे राय के अपराध से कम नहीं हैं। मैंने रेखा को गोली नहीं मारी। उसे अपनी सब सम्पत्ति की स्वामिनी बना दिया। परन्तु आपने देखा नहीं, वह दण्ड से वंचित नहीं रही; उसने अपने-आपको स्वयं ही दण्ड दे डाला। ऐसा दण्ड जो मृत्यु से बहुत अधिक भीषण और कष्टकर है।

मैं घोषित करता हूं कि इसे जीवित रहने दिया जाए—सब सुख-सुविधाओं के साथ समाज के बीच। और दुनिया को देखने का अवसर दिया जाए कि रेखा के समान वासना का शिकार बननेवाली कमज़ोर मन की स्त्रियों को अन्त में कैसे दिन देखने पड़ते है; उन्हें समाज से कट-कर, समाज की विष-दृष्टि में तिरस्कृत और दर्द-भरा असह्य जीवन व्यतीत करना पड़ता है—स्त्रीत्व के सब आशीर्वादों, सम्मानों, आनन्दों, सुरक्षाओं और पुण्यों से रहित।

रेखा

ज साजन की विदाई का दिन है। झूल रहे हैं वे। मेरे साजन
: कृष्ण कन्हैया। देखो लोगो! देखो। अरी कुलवधुओ, भले घर
धुओ, तुम भी देख लो। अपनी बड़ी-बड़ी आंखो का सुफल ले लो।

हां, हा, मैंने ही उन्हें उस झूले पर चढाया है, उनके प्यार का बद
काया है। कौन औरत मेरे इस काम मे बराबरी करेगी!

अरी, वे झूल रहे हैं। गाओ, गीत गाओ। बडी भारी बरसात अ
। सावन-भादों की झड़ी लगी है। काले-काले बादल उमड रहे
रज रहे हैं बदरा। सावन मे सब सजनी झूलती है। आज मेरे सा
ल रहे हैं। गाओ री गाओ, चुप क्यों हो! क्या सब मर गईं! दुनि
: इतनी औरतें हैं, पर मैं अकेली ही गा रही हूं। कोई मेरे सुर में
हीं मिलाती। क्यों? अरी सावन है, सावन क्या रोज-रोज आता
ाओ, गाओ।

झुलना झुलाओ
झूलना…

ओह! सावन-भादों की यह झड़ी! इस बार बरसकर शायद
क्यों न बरसेंगी ये आखें। अच्छा बरसो, बरसो। अरी बरसो,
रसो। मेरे साजन झूल रहे हैं। झूलो, प्यारे झूलो। सब सुख मिल
! आखें मुद गई हैं। बदन निढाल हो गया है। हाथों मुंह और
बेसरद हो गए हैं। ठीक,ठीक! आनन्दातिरेक की यही तो अवस्था
है। पर इस बार अकेले ही यह आनन्द लिया! मुझे यहीं छोड़ दिय
अकेले? भला कहीं दुनिया में, लोक में, परलोक में औरत अकेली
दी है? औरत क्या अकेली रहने को [illegible] है! [illegible]
को मना लो। ओ प्यारे, [illegible]